
53
२६४.५२११
विद्या|आ

आदर्श-बौद्ध-महिलायें

लेखिका
कुमारी विद्यावती "मालविका"
साहित्यरत्न

प्रकाशक
भारतीय महाबोधि सभा,
सारनाथ, बनारस।

प्रथम संस्करण] बुद्धाब्द २४९९ [मूल्य १॥)

प्रकाशक
भिक्षु एम० संघरत्न
मंत्री,
महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस

लेखिका की अन्य कृतियाँ

१. बुद्ध अर्चना
२. पूर्णिमा
३. श्रद्धा के फूल
४. कामना
५. बौद्ध कलाकृतियां
६. नारी हृदय
७. बुद्ध चित्रावली

आवरण-चित्र-परिचय

अशोक-पुत्री भिक्षुणी संघमित्रा बोधिवृक्ष की शाखा लेकर लंका जाती हुई।

मुद्रक
याज्ञवल्क्य
ममता प्रेस, कबीरचौरा, बनारस

समर्पण

ममतामयी - जननी पूजनीया

सुमित्रा देवी 'अमोला'

को

सादर समर्पित

—विभा

आमुख

भगवान् बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्त कर ऋषिपतन मृगदाय में धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया। महाकारुणिक के करुणा-मैत्री के उपदेशों से प्राणि-मात्र की व्यथा दूर हुई। ममतामयी नारी-जाति के प्रति भी भगवान् की करुणा-पूर्ण भावना थी। वे चाहते थे कि स्त्रियों को अधिकार प्राप्त हों, ताकि वे सम्मान पूर्वक जीवन व्यतीत कर सकें। तत्कालीन महिलाओं ने अपनी साधना एवं त्याग-भावना से मंगलमय उपदेशों को ग्रहण किया और प्रमाणित कर दिया कि कंज-कलिका-सी सुकोमल नारियाँ भी पुरुषों की भांति साधनामय जीवन बिताती हुई अर्हत्व प्राप्त कर सकती हैं।

कुछ नारी-रत्नों ने संसार के वैभव को त्याग काषाय-वस्त्रग्रहण कर साधना-पथ को अपनाया और कुछ गृह में निवास करती हुई शील-पालन द्वारा त्रिरत्न की शरण में रह अपना जीवन सफल कर लिया। मेरी आकांक्षा थी कि ऐसी महान् नारियों का जीवन-वृत्त प्रस्तुत करूँ। मेरी इस इच्छा को मूर्त्तरूप देने के लिये समय-समय पर पूजनीय भदन्त धर्मरक्षित जी ने मुझे उत्साह एवं उपयोगी सलाह प्रदान किया। इस हेतु मैं हृदय से उनकी कृतज्ञ हूँ। बुद्ध काल से इस समय तक की आदर्श-बौद्ध-महिलाओं का जीवन-चरित्र देने का प्रयत्न इस पुस्तक में किया गया है। यद्यपि यह पूर्ण है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, फिर भी यथा-सम्भव प्रयत्न किया गया है।

उज्जयिनी
१५—१—५६

—कुमारी विद्या

अनुक्रमणिका

आदर्श-बौद्ध-महिलायें



लेखिका

महाप्रजापती गौतमी

हिमलाय के अंचल-प्रदेश में कोलिय-वंशीय नरेशों की राजधानी देवदह नगरी थी। वहां के यशस्वी राजा महा सुबुद्ध की दो रूपवती कन्यायें थीं—महामाया एवं प्रजापती। रूप तथा गुण की इन सजीव प्रतिमाओं का यौवन के प्रथम प्रहर में कपिलवस्तु के राजा शुद्धोदन के साथ पाणि-ग्रहण हुआ। ज्येष्ठा होने के कारण महामाया प्रधान राज-महिषी हुईं और प्रजापती द्वितीय। उन्हें गौतम-वंशीय बधू होने के कारण "महा प्रजापती—गौतमी" के नाम से पुकारा गया।

प्रधान-महिषी महामाया से नेपाल की तराई की श्यामला धरा पर लुम्बिनी के शाल वन में, वैशाख-पूर्णिमा के पावन-पर्व पर, असंख्य-शुभ लक्षण-युक्त शिशु सिद्धार्थ का अवतरण हुआ। पुण्यशीला अग्र-महिषी ने शिशु-जन्म के सातवें दिन अपने नश्वर देह को त्याग दिया।

महाराज शुद्धोदन को अपूर्व-गुण-युक्त शिशु के पालन की चिन्ता हुई, क्योंकि जिस शिशु के लिये ज्योतिषियों, सामुद्रिक-शास्त्र वेत्ताओं एवं महामुनियों ने चक्रवर्ती नरेश या प्राणि-मात्र के हृदय-देव बनने की भविष्य वाणी की थी, उसे सुयोग्य हाथों में सौंपना था। देवी महा प्रजा-पती अपनी बड़ी बहिन पर अगाध श्रद्धा एवं स्नेह रखती थीं। महामाया देवी के देहान्त के पश्चात् महा प्रजापती गौतमी प्रधान राज महिषी बनीं। उन्हीं दिनों उनके भी नन्द नामक पुत्र का जन्म हुआ था। किन्तु स्नेहमयी

माता गौतमी ने अपने शिशु को धाय के हाथों सौंप बोधि-सत्व जैसे शिशु के पालन का भार ग्रहण कर अपने को धन्य माना। अपनी बड़ी बहिन के प्रति अर्पित अगाध श्रद्धा के परिणाम स्वरूप उन्होंने शान्ति एवं ममता के साथ शिशु सिद्धार्थ का पालन-पोषण किया। उनके ममता मय मातृ-प्रेम में कुमार (सिद्धार्थ) ने दया, दान, कार्य कुशलता आदि अनेक गुणों के साथ विद्याभ्यास किया। यशोधरा सी वधू पाकर देवी गौतमी हर्ष-विभोर हो गईं।

पुत्र सिद्धार्थ के समस्त कार्यों में उत्साहित रहने वाली माता के हृदय में कुमार के गृह-त्याग से पीड़ा पहुँची। त्याग-मयी यशोधरा के दुख से अपने दुख को भुलाकर वे जीवन के दिन काटने लगीं। सिद्धार्थ ने अनेक वर्षों तक कठिन तपस्या की। मार-विजय कर धर्म-चक्र प्रवर्तन के पश्चात् भगवान् बुद्ध जब उपदेश-सुधा से प्राणि-मात्र को तृप्त करते कपिल-वस्तु पधारे, तब देवी गौतमी के एक-मात्र पुत्र के नव परिणीता-पत्नी और राजसिंहासन को त्याग त्रिरत्न की शरण ग्रहण कर लिया बुद्ध महाराज शुद्धोदन तथा यशोधरा के एक-मात्र पुत्र राहुल ने भी प्रव्रज्या ग्रहण की। उनके कल्याणकारी उपदेशों को सुन देवी महा प्रजापती भी अति प्रभावित हुईं। उन्होंने विश्व-कल्याण के पथ पर जा सर्वस्व-त्याग की आकांक्षा प्रगट की, किन्तु भगवान् बुद्ध ने उलझनमयी नारियों को त्यागमय साधना-पथ पर आने की अनुमति नहीं दी। फिर भी वे निराश न हुईं और पाँच सौ महिलाओं को इस शुभ-विचार से उन्होंने प्रभावित किया।

एक समय भगवान्-वैशाली के उपवन में धर्मोपदेश की सुधा-वृष्टि कर प्राणिमात्र का मंगल कर रहे थे। तब हृदय में उत्साह एवं गम्भीरता लिए देवी गौतमी ने पाँच सौ शाक्य-सुकुमारियों के साथ कपिलवस्तु से वैशाली तक पैदल यात्रा की। सुकुमारियों के बदन कुम्हला गये थे किन्तु हृदय में उच्च संकल्प था—-भिक्षुणी-संघ की स्थापना का। भगवान् के प्रिय शिष्य आनन्द ने इस पर ध्यान दिया और महाकारुणिक भगवान् से

पूछा—"भन्ते ! क्या आपके पावन-धर्म में स्त्रियों के कल्याण की बात नहीं है ?"

भगवान् ने अपनी मंगलमयी वाणी में उसे सब के लिये बताया फिर भन्ते आनन्द के विनय पर उन्होंने स्त्रियों को भिक्षुणी होने की शुभ स्वीकृति प्रदान की। नारी जाति के लिये वह गौरवशाली स्वर्णिम-दिवस था, जब समानाधिकार की नेत्री देवी गौतमी के कठिन प्रयत्न के परिणाम-स्वरूप प्रथम भिक्षुणी संघ की स्थापना हुई। पाँच सौ शाक्य सुकुमारियों ने काषाय ग्रहण किया। देवी गौतमी उनकी प्रधान बनाई गई। इन साधिकाओं ने अपनी साधना से भगवान् को प्रसन्न कर लिया और इन्हें भी "उप सम्पदा एवं भिक्षुओं की भाँति अन्य अधिकार प्राप्त हुए।

कई जन्मों से साधना करती हुई अवतरित देवी का वह अन्तिम जन्म था; जिन्होंने सिद्धार्थ जैसे दिव्य पुत्र का पालन किया था। उन्होंने भगवान् के उपदेशों से समाधियोग, एकाग्र चिन्तन एवं अलौकिक ध्यान द्वारा अर्हत्-पद प्राप्त किया। जब वैशाली की कूटागार शाला के समीप महाबन में भगवान् निवास कर रहे थे, तब वे भी भिक्षुणी-संघ सहित वहीं थीं। एक दिन चारिका के पश्चात् उन्होंने सोचा, भगवान् का महापरिनिर्वाण, कुमार नन्द एवं राहुल के निर्वाण को उनका ममतामय हृदय कैसे सहन करेगा? इसलिए वे स्वयं पहले देह त्याग करें। इस हेतु उन्होंने भगवान् से विनय किया। भगवान् शान्त एवं गम्भीर वाणी में उन्हें उपदेश दिये जिससे उन्होंने समाधिस्थ हो परम शान्तिमय निर्वाण लाभ किया।

भगवान् के प्रति देवी गौतमी की अटूट श्रद्धा थी। वे उन्हें विश्व-कल्याण के हेतु अवतरित मानती थीं। थेरी-गाथा में आज भी उनकी अपूर्व भक्ति से ओत-प्रोत विद्यमान हैं। कितनी भावुकता एवं सरसता से उन्होंने कहा है—

"सुगत ! मैं तुम्हारी माता हूँ किन्तु तुम, मेरे पिता। क्योंकि उन्होंने तथागत का पालन किया था। भगवान् बुद्ध ने पिता की तरह उन्हे ज्ञान एवं अनुपम उपदेशों से अभिनव शान्ति प्रदान किया था। अन्यत्र वे कहती हैं—

"अहो ! बहुजन हिताय महामाया ने गौतम को जन्म दिया, उन्होंने व्याधि और मृत्यु के त्रास से प्राणियों को मुक्त किया आज मैं दुख निरोध-गामी आर्य आष्टांगिक मार्ग में विचरण करती हूं।"

"बुद्धवीर मैं तुम्हारी बन्दना करती हूँ तुम श्रेष्ठ हो। मेरे जैसी कितनी स्त्रियों को दुख-रूपी ज्वाला से उद्धार कर तुमने शान्ति का बरदान दिया। यह मेरा अन्तिम जन्म है। तुम्हारे ज्ञान से अब मुझमें तृष्णा नहीं रही। तुमने प्राणियों के दुख को हर लिया है।"

कितनी श्रद्धा थी, कितनी भक्ति थी उन्हें कल्याणकारी महाकारुणिक के उपदेशों में। धन्य है उन नारी-रत्न को जिनका ध्येय था संसार के सभी प्राणियों का मंगल हो तथा सभी ज्ञान प्राप्त कर जीवन्मुक्त हों। वे नारी जगत्-नेत्री महान थीं जिन्होंने महिलाओं को पुरुष के समकक्ष पहुँचाया तथा अमृत तत्व की प्राप्ति करा नारी लोक का कल्याण किया।

गोपा

कोलिय-राज दण्डपाणि सुप्रबुद्ध की गुणवती कन्या गोपा, यशोधरा के नाम से विख्यात हुईं, जैसा नाम, वैसा ही गुण था, सत्य ही उन्होंने महान यश को धारण किया। कपिल-वस्तु के दिव्य राजपुत्र युवराज सिद्धार्थ के लिए महा-मुनियों ने भविष्यवाणी की थी कि वे राज-वैभव को त्याग, विश्व का कल्याण करेंगे। एकमात्र सर्वगुण युक्त पुत्र की राज-कार्य की ओर आकर्षित करने के लिए महाराज शुद्धोदन ने विलासमय वैभव के सम्पूर्ण उपकरणों को एकत्रित कर दिया। प्रत्येक ऋतु के लिये सुख-शान्तिदायी प्रासाद एवं उपवनों के बीच संगीत, वाद्य की स्वर-लहरियों तथा मनहर सुरभित वातावरण में हर्षपूर्ण वैभव के बीच सिद्धार्थ रखे गये, किन्तु उनका मन किसी ओर न लगता था।

नित्य की भाँति एक महोत्सव में विभिन्न सुन्दर राजनन्दिनियों को आमन्त्रित किया गया। उत्सव की समाप्ति पर उन्हें राजकुमार सिद्धार्थ द्वारा पुरस्कार दिये जाने की भी व्यवस्था थी। समस्त सुन्दरियाँ उपहार ले-लेकर चली गयीं। तब, सुन्दरी गोपा के पुरस्कार लेने का अवसर आया। वे भी कुमार सिद्धार्थ से विदा लेने के लिए सामने गईं, किन्तु उस समय कुमार के समीप कोई वस्तु न थी। कुछ साहस-पूर्वक मुग्धा गोपा की वीणा विनिन्दित वाणी थी—"मैं भी निमन्त्रित हूँ कुमार!" कुमार ने हेम-निर्मित अशोक पात्र उपहार में दिया। साथ ही निजकर की मुद्रिका भी देना चाहा, किन्तु गोपा ने मधुर-स्वर में उसे न देने का अनुरोध किया। सिद्धार्थ का मन उनकी ओर आकर्षित हो गया और सौन्दर्यशीला, चम्पक-वर्णी, मुग्धा प्रणयिनी ने मन ही मन उन्हें हृदय का देवता मान लिया।

महाराज शुद्धोदन ने महाराज दण्डपाणि से युवराज सिद्धार्थ के साथ गोपा के परिणय का अनुरोध किया। किन्तु, राज-नन्दिनी गोपा को पत्नी रूप में पाने के लिये अपने शौर्य का प्रमाण देना कुमार सिद्धार्थ के के हेतु आवश्यक कहा गया। कुमार ने सभी को अस्त्र-शस्त्र कौशल में चकित कर दिया। हठीला चंचल अश्व स्वयंबर में आये हुए किसी राजकुमार से न सम्हला, किन्तु उनके सम्मुख वह पाले हुए हरिण-सा नत हो गया। क्षत्रियोचित-गुणों से युक्त राजकुमार सिद्धार्थ के साथ देवी गोपा का परिणय हुआ। अपने हृदयेश्वर की छाया-सी होकर राजवधू गोपा अपने प्रिय की सच्ची अनुगामिनी बन गई। विवाह के पश्चात् नौ-दस वर्ष का समय हँसते-हँसते नव-नव क्रीड़ाओं से सुख का निर्माण करते बीत गया। राज-वधू गोपा गर्भवती हुई। एक रात्रि में उन्होंने विचित्र स्वप्न देखा—'एक श्वेत साँड़, जिसके मस्तक पर मणि था और सींग फैले हुए थे, भागता हुआ नगर एवं प्रासाद की ओर आया। उन्होंने द्वार बन्द करने की आज्ञा दे उसे रोकना चाहा, किन्तु न रोक सकीं। वे जाग उठीं, पर स्वप्न में सुने गये ये शब्द उन्हें कंपित कर रहे थे "आन पहुँचा है वह वक्त।"

कजराहे नयनों से अश्रु बहाती हुई उन्होंने सब बातें अपने हृदय के देवता सिद्धार्थ से कहा। कुमार सिद्धार्थ ने उन्हें सांत्वना दी। वे सो गयीं। राजकुमार जब से रुग्ण, वृद्ध, मृत एवं योगी को देखे थे, तब से उनका चित्त मुक्ति-मार्ग के अन्वेषण की ओर केन्द्रित हो रहा था। अंत में उन्होंने निश्चय कर लिया और प्रिय पत्नी गोपा तथा नवजात शिशु राहुल को त्याग कर नीरव निशा में प्रासाद, वैभव प्रणय एवं स्वजन-स्नेह से विदा ले चले गये। महाभिनिष्क्रमण की नीरव निशि में उन्होंने अनोमा नदी पार किया और वस्त्राभूषण तथा कंथक अश्व अपने छंदक को दे, स्वयं बनवासी हो गये।

देवी गोपा जागीं, किन्तु सब कुछ जा चुका था। आँसुओं से भींगती बिरहिणी गोपा ने कठोर साधना के साथ प्रिय की प्रतिक्षा प्रारम्भ कर दी।

राज-बधू के योग्य वस्त्राभूषण त्याग कर वे संन्यासिनी की भाँति त्यागमय जीवन व्यतीत करने लगीं। सौभाग्य-चिन्ह चार चूड़ियाँ और मस्तक पर सिंदूर-बिन्दु ही उनका शृंगार रह गया। महाराज और महारानी महाप्रजापती गौतमी की सेवा और शिशु राहुल का पालन करने लगीं। जब उसके आराध्य बनवासी हो गये, तो वे पति की सच्ची सहचरी कैसे वैभव के बीच रहतीं?

कई वर्षों तक कठोर तपस्या कर कुमार सिद्धार्थ ने मार-विजय की और ज्ञान प्राप्त कर वे भगवान् बुद्ध बन गये। ऋषिपतन मृग-दाव में आ उन्होंने धर्म-चक्र प्रवर्तन किया और प्राणि-मात्र के दुखों को अपनी करुणा से दूर करते तथा धर्मोपदेश की सुधा बरसा के कपिलवस्तु के निकट आये।

चिर प्रतीक्षा में पलकें बिछायी गोपा को भी उनके ससुर ने भगवान् के समीप चलने के लिये कहा, किन्तु श्रद्धामयी मानिनी ने अपनी अविचल भक्ति के सहारे अनुनय-पूर्ण स्वर में कहा—देवता ही यहाँ आवें।

ससुर शुद्धोदन भी बधू-गोपा को छोड़ कर नहीं गये। महाकारुणिक उनकी अचल भक्ति से प्रसन्न हुए और स्वयं गोपा के द्वार पर आये। देवी गोपा ने देखा, अपने हृदय के देवता सिद्धार्थ को विश्व-देवता के रूप में। उस विरहिणी ने विश्व के सुख के लिये सब-कुछ न्यौछावर कर दिया। काषाय वस्त्र-धारी दिव्य देवता तथागत को वे क्या देतीं? उनका अंचल धन, उनका सर्वस्व था राहुल। त्याग की उस पुनीत प्रतिमा ने अपने एकमात्र प्रिय पुत्र राहुल को उनके चरणों में समर्पित कर दिया।

कालान्तर में अपने देव-तुल्य ससुर के देहान्त के पश्चात् वे भी प्रव्रज्या ले, भिक्षुणी हो गईं और कठिन साधना तथा शील-पालन करती हुईं, महाभिज्ञा प्राप्त कीं। थेरी होने के पश्चात् भिक्षुणी संघ में भद्रा कात्यायनी के नाम से विख्यात हुईं। अग्रश्रावक सारिपुत्र और महामौ-

द्गल्यायन, बक्कुल स्थविर तथा भद्रा कात्यायनी (गोपा देवी) को ही भगवान् गौतम बुद्ध के समय में महाभिज्ञा की प्राप्ति हुई थी।

तथागत ने भिक्षुणिओं को पद देते हुए भिक्षुणी भद्रा कात्यायनी को भी पद दिया था—भिक्षुओ ! मेरी महा-अभिज्ञा प्राप्त भिक्षुणी श्राविकाओं में भद्राकात्यायनी अग्र है।"

देवी गोपा पति की सच्ची अनुगामिनी थीं वैभव में वैभवमयी और त्यागमय जीवन में सच्ची साधिका। महाकारुणिक की कल्याणमयी पावन-गाथा के साथ उनकी करुणा, कहानी युग-युग तक श्रद्धा पूर्वक याद रहेगी।

धम्मदिन्ना

उस श्रेष्ठि कन्या ने अपने पति को सर्वस्व माना। पति की इच्छा उसकी इच्छा थी। उसका धर्म था, कर्तव्य था। जब तक वह गृह में रही अपने को अपने हृदय के देवता से भिन्न नहीं समझी। उसके पति ने जब सांसारिक झंझटों को त्याग दिया, तब उस सच्ची पति-परायणा नारी ने भी वैभव को ठुकरा कर त्रिरत्न की शरण में जा, अकिंचन एवं अर्हत का महान् पद प्राप्त किया।

इस नारी-रत्न धर्मदिन्ना का जन्म राजगृह के एक धनी श्रेष्ठि के यहाँ हुआ था। सौंदर्य एवं गुण की इस सजीव प्रतिमा को परिणीता के रूप में प्राप्त कर श्रेष्ठि विशाख हर्ष-विभोर हो गया। यद्यपि धम्मदिन्ना भगवान् की भक्ति की ओर आकर्षित नहीं हुई थी, फिर भी भगवान् के श्रद्धालु उपासक विशाख ने कभी अपनी प्रिय पत्नी की स्वतन्त्रता में बाधा नहीं डाली। विशाख, मगध-नरेश बिम्बिसार के प्रिय मित्र और भगवान् बुद्ध के पूर्ण श्रद्धालु भक्त थे।

वे महा-कारुणिक भगवान् के उपदेशों को अत्यन्त ध्यान-पूर्वक सुनते और पालन करते थे। वे आध्यात्मिक पथ की ओर तीव्र-गति से बढ़ रहे थे। धम्मदिन्ना पति की सेवा कर अपने को धन्य मानती थी और उसके पति भी उसके सुख का पूर्ण ध्यान रखते थे। नित्य ही उनके घर आने के समय नयनों में दर्शन की आशा लिये सुन्दरी धम्मदिन्ना अपने हृदयेश्वर की प्रतीक्षा करती थी और विभिन्न प्रकार के स्वादिष्ट भोजन बना सेवा और मधुर मुस्कान से उन्हें प्रेम-विभोर कर देती थी।

एक दिन प्रणयमयी धम्मदिन्ना प्रतीक्षा में पलकें बिछाई खड़ी थी। विशाख आये और मौन ही रहे। वह सुन्दरी कुछ समझ न सकी। पति की नीरसता के दुःख को कृत्रिम हँसी में छिपाकर उसने स्मिति की मधुरिमा बिखेरते हुए भोजन परोसा, किन्तु उसके पति ने वह भी ग्रहण न किया। अपने सर्वस्व अपने प्रिय पति के इस व्यवहार से उसका हृदय आशंकाओं के कारण वेग से धड़कने लगा, किन्तु साहस कर उसने मृदु स्वर से पूछा—"आर्य-पुत्र! क्या दासी से कोई भूल हो गई है, जो आप इतने रुष्ट हैं?"

इस पर विशाख का उत्तर था—"शुभे! तुम्हारी कोई भूल नहीं है। मैंने शीलमय नवीन पथ ग्रहण किया है, जिसमें नारी स्पर्श, भोग-विलास एवं स्वादिष्ट भोजन का निषेध है। यह गृह तुम्हारा ही है शुभे! तुम चाहो तो इसमें राज-रानी की भांति रहो अथवा मनचाहा रत्नाभरण ले पितृ-गृह चली जाओ।"

यह गम्भीर उत्तर सुनकर धम्मदिन्ना का नारी-हृदय रो पड़ा। आँसुओं का बाँध टूट गया। कुछ समय पश्चात् उसे हलकापन प्रतीत हुआ। उसने स्थिर-मति से विचार किया कि "पुण्य मय पथ से अपने हृदेश्वर को लौटने का प्रयत्न करना पति-परायणा नारी को शोभा नहीं देता।? फिर?....स्वयं पति की अनुगामिनी बने। क्या परिणीता का प्रणय रत्नाभरण के मूल्य से बदल सकता है?" उसका निश्चय था असम्भव।

उसने अपने पति से विनय की कि उसे रत्नाभरण की आवश्यकता नहीं, जब उसके पति, उसके आराध्य ही त्याग के पथ पर हैं तो वह भी शास्ता की शरण में जा प्रव्रज्या लेना चाहती है। विशाख को अपनी पत्नी पर गर्व हुआ। वह पति से विदा एवं शुभ-कामनायें पा स्वर्ण-मंडित पालकी पर बैठा भिक्षुणी संघ की निवास-स्थली पर पहुँचा दी दी गई। वहाँ से एकान्त में जा उसने साधना एवं धर्मज्ञान संचय

प्रारंभ किया और त्रिरत्न-शरण में जा समस्त बंधनों का दमन कर अर्हत्व प्राप्त कर लिया। अर्हत्व प्राप्ति के पश्चात् उसे प्रेरणा मिली कि वह नगर में जा अन्य पीड़ित महिलाओं को भगवान् के शान्तिमय उपदेशों से सुखी करें। वह राज गृह वापस आई। तब उनके पति को प्रतीत हुआ कि कहीं महलों की विहारिणी साधना मय जीवन से ऊब तो नहीं गई ?

इसकी जानकारी प्राप्त करने के लिए वे धम्मदिन्ना से मिले और बहुत से धार्मिक प्रश्न किए। धम्मदिन्ना ने उन धार्मिक प्रश्नों के सुन्दर संतोषप्रद उत्तर दिए।

कुछ प्रश्नों के लिए उन्होंने कहा---"यह भगवान् से ही पूछना चाहिए।" विशाख ने इन बातों की चर्चा भगवान् से की। भगवान् धम्मदिन्ना पर बहुत प्रसन्न हुए।

एक बार भगवान् जेतवनाराम में निवास करते हुए प्राणी-मात्र के प्रति कल्याणकारी उपदेश दे रहे थे। उन्हीं दिनों उन्हों ने भिक्षुणियों को उनको योग्यतानुसार पद दिया। महाबुद्धिमती उस नारीरत्न को उन्होंने भिक्षुणी संघ में धर्म-कथिकाओं में श्रेष्ठ का स्थान दिया।

परम साधिका थेरी धम्मदिन्ना ने धर्म कथाओं-द्वारा सुन्दर उपदेश दिया और बहुत-सी दुखिया नारियों को त्रिरत्न की शरण ला शान्ति प्रदान की।

अपनी साधना-बेला में उसने स्वयं ही गाथा के रूप में कहा था—

"जो अंतःकरण की सम्पूर्ण वृत्तियों से परम शान्ति की इच्छा करता है और भोग-तृष्णा के आकर्षण में नहीं फंसता, वही संसार रूपी स्रोत के ऊपर जाने वाला कहलाता है।"

उसने अपना समस्त जीवन साधना एवं धर्मोपदेश करते बिता दिया और लोक-कल्याण में स्वयं को विस्मृति कर दिया। किन्तु पालि-साहित्य में आज भी उसकी स्मृति आदर की वस्तु बनी हुई है।

खेमा

माता-पिता की प्रिय सागल देश की राजकन्या सागल-कुमारी क्षेमा (खेमा) सौंदर्य की साकार प्रतिमा थी। इस सौभाग्य-शालिनी रूपसी ने केवल वाह्य सौंदर्य ही नहीं, किन्तु आन्तरिक सौंदर्य को भी प्राप्त किया।

चम्पक-कलिका की भाँति गौर रंग वाली सुन्दरी क्षेमा का जन्म सागल-राज के यहाँ हुआ था। माता-पिता ने अपनी प्रिय पुत्री की शिक्षा-दीक्षा का उचित प्रबन्ध किया। वय प्राप्त होने पर क्षेमा के सौंदर्य के साथ गुणों में भी पर्याप्त बृद्धि हुई। ऐसी गुणवती रूपसी के साथ परिणाय के हेतु तत्कालीन अनेक राजकुमारों ने सागलाधिपति से अनुरोध किया, जिनमें मगध के यशस्वी नरेश बिम्बिसार भी थे। सागल के महाराज एवं महारानी ने ऐसे सुयोग्य वर के हाथों में अपनी स्नेहमयी पुत्री को सौंप दिया। और राज नंदनी क्षेमा ने मगध की प्रधान राज-महिषियों में अग्रस्थान प्राप्त किया। उसके प्रिय बिम्बिसार का समस्त प्रेम उस योग्य पत्नी को प्राप्त हुआ।

मगध नरेश बिम्बिसार की भगवान् बुद्ध पर पूर्ण श्रद्धा थी। जब कुमार सिद्धार्थ राजवैभव और ममतामय परिवार के स्नेह को त्याग कर ज्ञान की खोज में निकले थे। तब मगध-नरेश ने उन्हें वैभव त्याग न कर वापस जाने के लिए अनुनय किया था, किन्तु अपने दृढ़ निश्चय को बताते हुए राजकुमार सिद्धार्थ ने सांसारिक बातों में फंसने के लिए अस्वीकार कर दिया। मगध-नरेश ने उनसे कहा था कि जब वे मुक्ति-मार्ग को विदित कर लें, तो उन्हें भी ज्ञान-दान दे कृतार्थ करें।

ऋषिपतन मृगदाव में धर्म-चक्र-प्रवर्तन कर पावन उपदेशों का बरदान देते भगवान् बुद्ध राजगृह आये और महाराज बिम्बिसार के आमंत्रण पर मगध गए। महाराज ने अपने भाग्य को धन्य माना और वेणुवन नामक सुन्दर उपवन तथा विहार भगवान् और भिक्षु-संघ को उन्होंने अर्पित कर दिया। वे नित्य ही भगवान् की शरण में जा उपदेशामृत ग्रहण करते थे, किन्तु उनकी लावण्यमयी प्रिया प्रधान—महिषी सदैव भगवान् के दर्शन से बंचित रहने का प्रयत्न करती थी। यद्यपि गुणवती क्षेमा शास्ता पर श्रद्धा रखती थी, किन्तु उसे भय था कि भगवान् सुगत सौंदर्य की तुच्छता बताते हैं, उसे भी अपने रूप पर गर्व है, कहीं ऐसा न हो कि उसके रूप की भी तुच्छता बता दें।

जब वह स्वयं अपनी इच्छा से नहीं गईं, तो उसके हृदयेश्वर मगध-राज ने काव्य एवं संगीत द्वारा महारानी को बेणुवन की प्रशंसा के गीत सुनवाये। कलाप्रिय नारी का मन वेणुवन की ओर आकर्षित हुआ और वह वहाँ जाने की इच्छा प्रगट की। राजा पाकर रानी खेमा दास दासियों सहित वेणुवन में गईं। पक्षियों का कल्लोल, पुष्पों का सौरभ और रमणीय प्राकृतिक सुषमासे रानी प्रसन्न हो गईं। जब वह प्रासाद की ओर वापस जाने लगी, तो उसे उसी पथ से लाया गया, जिस ओर महाकारुणिक सुन्दर तरुवर की छाया में बिराजे अपूर्व शान्ति को सुधा वर्षा करते थे। महाकारुणिक ने अपनी करुणा से रानी को ज्ञान देने योग्य समझा। शास्ता ने अपनी अलौकिक योग-बल से एक अत्यन्त सुन्दरी अप्सरा प्रगट किया, जो उन्हें अपने कमनीय करों से पंखा झल रही थी।

मगध के सौन्दर्यमयी राज-महिषी ने देखा कि दिव्य-देव शास्ता को जिन्हें वह अलौकिक रूप वाली अप्सरा पंखा झल रही थी। वह श्रद्धा से नत हो गईं। उसने विचार किया कि मैं भी कैसी हूं जो देवता मेरे घर आये और मैं दर्शन से दूर रही। थोड़ी देर में उसने देखा कि वह

युवती (अप्सरा) प्रौढ़ा हो गई और फिर वृद्धा। उसका रूप नष्ट होगया, दाँत टूट गये, कमर झुक गई और कान्ति भी चली गई। राज-महिषी खेमा रूप की क्षणभंगुरता देख सिहर उठी। उसका हृदय कातर हो गया। वह भगवान् की शरण में अपनी भूल जान गई। शास्ता ने उसे समझा कर धर्म का उपदेश दिया। बुद्धिमती खेमा का झूठा गर्व जा चुका था।

शास्ता के दर्शन कर जब वह राज-प्रासाद में वापस आई तो उसने प्रव्रज्या के हेतु अपने पति मगध-राज से आज्ञा चाही। अपनी प्रिया पत्नी से वियोग की बात सुनकर राजा का हृदय तड़प उठा, किन्तु अपनी संगिनी के मंगलमय पथ में वे बाधक न बने और हृदय को सम्हाल कर उन्होंने सहर्ष प्रव्रज्या की आज्ञा दे दी।

स्वर्णिम्-शिविका में बैठी मगध-राज-महिषी भिक्षुणी-संघ की निवास-स्थली पर पहुँच गई। वहाँ विधिवत प्रव्रज्या ले काषाय-वस्त्र धारण किया। उसने कठिन साधना करते हुए अर्हत्व प्राप्त कर लिया। शास्ता ने उसे महा-प्रज्ञावती की उपाधि प्रदान की।

महान् सौन्दर्य-शालिनी होने के कारण साधिकर खेमा को पथ से विचलित करने के लिये मार एवं कामुक व्यक्तियों द्वारा पर्याप्त प्रयत्न किया गया, किन्तु शास्ता की शरण में जा त्रिरत्न के प्रति अगाध श्रद्धा रखनेवाली प्रज्ञावती भिक्षुणी ने सब पर विजय प्राप्त की और अर्हत् हो गई।

मार के साथ वाद-विवाद की सुन्दर गाथा आज भी उनके ज्ञान एवं श्रद्धा की मंजुल स्मृति है।

मार ने स्वयं युवा का रूप धारण कर कहा—"क्षेमा! तुम रूपवती युवती हो और मैं भी युवा। हम विषय-सुख का आनन्द लें।" शास्ता के उपदेशों का पालन करनेवाली सुविज्ञा क्षेमा ने उत्तर दिया— "मैंने काम-तृष्णा को काट दिया है। काम-तृष्णा भाले की तरह विद्ध करनेवाली है, जिसे तू आनन्द कहता है?

मैंने भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध की पूजा की है। शास्ता के शासन को पालन कर मैं सब दुःखों से अब विमुक्त हूँ।"

उत्पलवर्णा

सुधि सम्हालते ही जिन्हें गुण, रूप और सुशीलता ने अद्वितीयता प्रदान की, किन्तु उनकी हार्दिक आकांक्षा ने उन्हें विद्या, वैराग्य के साथ त्रिरत्न-शरण की ओर आकर्षित किया। वे सांसारिक बन्धनों में होतीं, तो राज वैभव, विलासिता के उपकरण प्रासाद और दास-दासियाँ प्राप्त होतीं, किन्तु उन्होंने अपने को धार्मिक क्षेत्र में उतारा और ऋद्धिमती भिक्षुणी बनने की जन्म-जन्मान्तर की प्रतिज्ञा पूर्ण की। ममतामय माता-पिता की आज्ञा से जिन्होंने सहर्ष भिक्षुणी-संघ में जा प्रव्रज्या ग्रहण की, उनका नाम था—उत्पलवर्णा।

ऋद्धिमती भिक्षुणी उत्पलवर्णा का जन्म श्रावस्ती के कोषाध्यक्ष के यहाँ हुआ था। इनका रंग नील-कमल की भाँति कान्तियुक्त था, इसलिए इन्हें उत्पलवर्णा का नाम दिया गया। शारीरिक सौंदर्य के साथ इनके गुणों में दिन प्रतिदिन वृद्धि होने लगी। इनके रूप की चर्चा तत्कालीन युवकों के लिए आकर्षण का विषय बन गया। यौवन के प्रथम प्रहर में इनसे परिणय के हेतु कई श्रेष्ठि-पुत्रों एवं राजकुमारों के संदेश आने लगे; जो सभी एक से एक बढ़कर वैभव एवं बलशाली थे। सभी को प्रसन्न करना तो इनके माता-पिता की शक्ति के बाहर की बात थी। किसी एक व्यक्ति से सुन्दरी का उत्पलवर्णा का विवाह होता तो शेष सभी रुष्ट होकर उसके माता-पिता को हानि पहुँचाते। ऐसी विषय परिस्थिति में सुन्दरी के पिता बहुत चिन्तित हो गये। पिता को चिन्तित देखकर सुन्दरी उत्पलवर्णा ने कहा—"तात! आप दुःखी क्यों होते हैं?"

उसके पिता ने अपनी हार्दिक व्यथा को छिपाते हुए उत्तर दिय—"बेटी ! अनेक राजकुमारवं ए श्रेष्ठि-पुत्र तुम्हें अपनी परिणीता बनाना चाहते हैं, किन्तु सभी को मैं कैसे सन्तुष्ट कर सकता हूँ। किसी एक से तुम्हारा विवाह कर दूँ तो शेष सभी झगड़ा करेंगे। मैंने सोचा है...।" इसके आगे वे कुछ न कह सके, उनका स्वर रूँध गया।

उत्पलवर्णा ने गम्भीर स्वर में कहा—"कहिये तात ! आपकी उत्पला सब-कुछ करने के लिये प्रस्तुत है।"

पिता ने कहा—"बेटी मैं तुम पर कितनी ममता रखता हूँ किन्तु परिस्थिति ने मुझे यह कहने के लिये विवश कर दिया है कि तुम प्रव्रज्या ग्रहण कर इन झंझटों से मुक्त रह सकती हो। मेरी पुत्री ?"

लाड़ली पुत्री ने माता-पिता की विपत्ति को सोचा। पिछले जन्मों का पुण्य, भारतीय नारी का नारीत्व एवं उत्तम शिक्षा ने कुमारी तरुणी को साहस दिया। उनका सहर्ष स्वर था—"मेरा यही कर्तव्य है तात ! मैं प्रव्रज्या लेकर अपने को धन्य समझूँगी।

परिवार के व्यक्तियों ने भींगते आंसुओं से सुन्दरी उत्पलवर्णा को विदा दी और मोह-माया से मुक्त गुणवती उत्पलवर्णा के शुभ समय में भिक्षुणी-संघ में जा प्रव्रज्या ग्रहण की।

कुछ काल पश्चात् उन्हें उपसम्पदा मिली। वहाँ उन्होंने धर्म का अध्ययन किया। शील सम्पदा एवं समाधि के हेतु साधना की। प्रति पूर्णिमा तथा अमावस्या को उपोसथागार को श्रद्धापूर्वक स्वच्छ करती एवं प्रज्वलित दीप के सम्मुख बैठकर ध्यानावस्थित हो जाती थीं, फिर "प्रातिमोक्ष" का पाठ करती थीं।

धीरे-धीरे प्रज्ञा का सम्पादन कर अर्हत्व को प्राप्त कर लिया। ऋद्धि-सिद्धियों में भी निपुण हो गईं। एक समय महाकारुणिक तथागत ने दो वस्तुओं को (जिनके विभिन्न गुण-रूप थे) साथ मिलाकर एक ऋद्धि बल दिखाया। श्रद्धामयी उत्पलवर्णा के मुग्धा की भांति सब कुछ

देखा और हर्षित स्वर में सिंहनाद किया—"देव ! आपकी यह शरणागता भी एक चमत्कार दिखलायेगी।" आज्ञा पाकर उन्होंने भी चमत्कार दिखाया।

जेतवनाराम में संघ के सम्मुख उपदेश देते हुये शास्ता ने एक दिन सब भिक्षुणियों को उनकी योग्यतानुसार पद दिया। उनके सिंह-नाद का स्मरण करा भगवान् ने उत्पलवर्णा को ऋद्धिमती भिक्षुणी का श्रेष्ठ पद दिया। भिक्षुणी उत्पलवर्णा की जन्म जन्मान्तर की आकांक्षा पूर्ण हुई। उन्होंने पूर्व-जन्म में बहुत दान-पुण्य किया था और भगवान् की सेवा अर्चना भी उसी के सुपरिणाम से उन्हें शीघ्र ज्ञान प्राप्त हुआ था।

मार ने उन्हें पथ से विचलित करने की कई चेष्टायें कीं, किन्तु उन पर विजयी न हो सका। एक समय वे शालवन में बैठी ध्यान कर रही थीं, तब मार आया और अपना छल प्रारम्भ किया। उस समय उन्होंने जो गाथायें कहीं वे उनकी विद्वता का प्रतीक होकर आज भी पालि साहित्य में विद्यमान हैं।

मार ने कहा था—"पुष्पित तरु की छाया में बैठी हो। तुम्हें कोई भय नहीं है क्या ?"

उत्पलवर्णा ने गम्भीरता पूर्वक उत्तर दिया था—तेरे समान सहस्रों दुर्विनीत अथवा धूर्त आ जावें, तो भी मेरा स्पर्श नहीं कर सकते, फिर तेरा क्या साहस, जो कुछ कर सको। मार ने पुनः कहा था—मैं अदृश्य होकर तुम्हारी देह में प्रवेश करूंगा, तुम देख भी न सकोगी।" उत्पलवर्णा का वही गम्भीर स्वर था—"मेरा चित्त मेरे वश में है, मैं योग-सिद्धियों से युक्त हूँ। छः ज्ञानों की पार-दर्शिनी हूँ। मैंने भगवान् बुद्ध के शासन को पूर्ण किया है। काम-तृष्णा दुःख पहुँचाने वाले हैं, जिन्हें तू आनन्द कहता है। मैंने वासना एवं अज्ञानांधकार को नष्ट कर दिया है। तू समझ ले कि मेरे लिये तेरा अंत हो गया है।"

अन्यत्र उन्होंने अर्हत्व प्राप्त कर उदान स्वरूप कहा है—"मुझे पूर्व-जन्मों का स्मरण हुआ। पर-चित्त-विजानन ज्ञान प्राप्त हुआ श्रोत्र इन्द्रिय एवं दिव्य चक्षु विशोधित हुए।

चित्त-मलों का विनाश हुआ और मैंने योगसिद्धि का साक्षात्कार किया।

छः श्रेष्ठ ज्ञान को प्राप्त कर मैंने बुद्ध-शासन को पूर्ण किया। विश्व-देवता भगवान् बुद्ध के चरण-कमलों की बन्दना की।"

पटाचारा

विपत्ति की मारी अबला, जिसने भगवान् की शरण में जा दुःखों से त्राण पाया और दुःखमय जीवन को भुला ज्ञान के उज्ज्वल पथ पर बढ़ते हुए संघ-नायिका और विनयधरा का श्रेष्ठ-पद प्राप्त किया, अपने समान पाँच सौ संकट-ग्रस्त नारियों को मुक्ति का आलोकित पथ दिखाया और उन्हें शोक से मुक्त किया, उस साधिका नारी का नाम था—पटाचारा।

भिक्षुणी होने पर यह दुखिया स्त्री पटाचारा के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस नाम के साथ उसके जीवन की दुःखमयी घटनायें भी सम्बद्ध हैं। पटाचारा का पूर्व नाम किसी को विदित नहीं। वह श्रावस्ती के एक धनी सेठ की पुत्री थी। तरुणी होते ही उसके माता-पिता ने एक धनी एवं स्वजातीय-वणिक् पुत्र के साथ उसका विवाह करना चाहा, किन्तु वह विवाह के पूर्व ही अपने यहाँ के एक सेवक के प्रेम-पाश में बँध चुकी थी। उससे विवाह की कोई आशा न रहने पर, वह एक दिन उसके साथ चुपचाप घर से भाग निकली। वह उसे प्राणों से अधिक चाहता था। इसके सुख का भी पूर्ण ध्यान रखता था। दूर देश में जाकर दोनों ने विधिवत् विवाह कर लिया। कुछ समय तक दोनों के दिन अच्छी तरह कटते रहे। इसी बीच वह गर्भवती हुई। यद्यपि अपने माता-पिता की आज्ञा लिये बिना ही वह मनचाहे पति के साथ भाग आई थी, फिर भी उनकी स्मृति उसके मन में सदैव बनी रहती थी। गर्भावस्था में निर्धन पति के पास प्रसव का समुचित प्रबन्ध न देख, उसने अपने माता-पिता के घर जाने की आज्ञा चाही, किन्तु पति ने वहाँ जाना उचित न समझा और मधुर बातों में ही टल

दिया। तब उसने एक दिन चुपके से ही घर से निकल कर अपने पितृगृह श्रावस्ती का पथ पकड़ा। रास्ते में भेंट होने पर पति ने समझा-कर वापस लाया। दोनों फिर प्रसन्नता-पूर्वक रहने लगे। कुछ समय पश्चात् उसे एक सुन्दर पुत्र भी उत्पन्न हुआ। सुनहरे दिन बीतने लगे। वह पुनः गर्भवती हुई और पितृ-गृह की राह लीं। उसका पति फिर समझा-बुझा कर वापस ला रहा था। मार्ग में बड़ी जोर से आँधी आई और घनघोर वर्षा होने लगी। उसके प्रिय पति से उसकी निराश्रयता और दुःख न देखा गया। वह एक झाड़ी के समीप जा कुछ डालियाँ काटने लगा, ताकि छाया बनाकर पत्नी की रक्षा कर सके। झाड़ी में रहते हुए एक साँप ने उसे डँस दिया, जिससे वह वहीं मर गया। प्रसव के कुछ समय पश्चात् वह अपने नव-शिशु एवं नन्हे पुत्र को लेकर पति की खोज में निकली। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते पति को मृत देख दुखिया नारी पुत्रों को लेकर श्रावस्ती जाने के लिये नदी पार करने लगी। नदी वर्षा के कारण बढ़ी हुई थी और इस पार निर्जन वन भी था, अधिक समय तक नहीं रह सकती थीं अतः नव-शिशु को नदी पार करा, दूसरे किनारे पर झाड़ी के पास सुला दिया और बड़े पुत्र को लिये नदी में उतरी। तभी एक बाज उस शिशु को माँस-पिण्ड समझ, झपट कर ले गया। उस अबला माता ने चिल्लाया, तालियाँ बजाईं, पर बाज शिशु को न छोड़ा। बिवश हो एक-मात्र सहारा बड़े पुत्र की ओर बढ़ीं, देखी तो वह सन्न हो गईं। उसके बड़े पुत्र ने समझा, उसकी माता उसे बुला रही है और वह नदी के प्रवाह में आ गया था। पटाचारा ने लाख प्रयत्न किया, किन्तु उसे न बचा सकीं। सब तरह से असहाय हो रोती-विलाप करती हुई वह श्रावस्ती की ओर बढ़ीं। रास्ते में एक पथिक से अपने माता-पिता का हाल पूछने पर सुना कि छत गिर जाने के कारण उसके माता-पिता, भाई आदि दबकर मर गये हैं, श्मशान में उठता हुआ धुँआ उन्हीं सबका है। सुनते ही पटाचारा

पछाड़ खाकर गिर पड़ी। उसे वस्त्रों तक का ध्यान न रहा। कपड़ों और लज्जा का ध्यान न रहने के कारण उस धनी श्रेष्ठि की पुत्री, निर्धन पत्नी और दुखिया माता को 'पटाचारा' के नाम से पुकारा गया।

उन दिनों महाकारुणिक भगवान् श्रावस्ती में भिक्षु-संघ को उपदेश दे रहे थे। वस्त्रहीना, उन्मत्त सी पटाचारा विलाप करती हुई भगवान् के चरणों पर गिर पड़ी। करुणा-निधि तथागत ने सुधावर्षिणी, मृदु वाणी में कहा—'भगिनी' चैतन्य-लाभ कर।" उनकी दया से उसे चैतन्य-लाभ हुआ, तब तक उस पर किसी ने वस्त्र डाल दिया। पटाचारा ने उन विश्व-देवता से रो-रो कर अपनी दुख-भरी कहानी सुनाई। भगवान् ने उसे धर्म का उपदेश दिया, इससे उसके चित्त को बड़ी शान्ति मिली। उन्होंने उसे निर्वाण पथ का पथिक बनाया।

प्रव्रजित हो भिक्षुणी पटाचारा साधना में लीन हो गई। भगवान् ने प्रसन्न होकर उसे विनयशीला भिक्षुणियों में अग्र-स्थान प्रदान किया। एक दिन भिक्षुणी पटाचारा बैठी हाथ-मुँह धो रही थी। उसने देखा कि जल कुछ दूर बह कर सूख गया। उसने पुनः पानी डाला, वह भी कुछ दूर जाकर सूख गया। उसी आधार पर उसने सोचा; जीवन भी इसी प्रकार अनित्य है। कोई जल्दी मरता है कोई देर से। त्रिरत्न की शरण में रह इसी प्रकार विचार एवं साधना करती हुई उसने अर्हत्व प्राप्त कर लिया। उसके उपदेशों में बहुत प्रभाव था। उसी की भाँति कितनी ही दुखिया नारियों ने उससे शिष्यत्व ग्रहण कर त्रिरत्न की शरण में जा शान्ति प्राप्त की। एक बार वह बहुत सी स्त्रियों के बीच उपदेश दे रही थी, उस समय लगभग पचास स्त्रियाँ उसके उपदेश से प्रभावित हो साधना-पथ पर आ गईं। यह एक गर्व की बात थी। अर्हत्व प्राप्त कर उसने अपने जीवन का पर्यवेक्षण करते हुए जो गाथा में कही हैं वह उसकी साधना-सम्पन्नता की प्रतीक है। पटाचारा ने कहा है—

"हल जोत कर बीज बोते हैं।

स्त्री-पुत्र आदि का पालन करते हुए मनुष्य धन पैदा करते हैं। फिर मैं, क्यों निर्वाण के हेतु साधिका न बनती ? मैं शास्ता के शासन को मानने वाली और शीलसम्पन्ना हूँ।" अन्यत्र भिक्षुणी पटाचारा ने कहा है:—

"एक दिन हाथ-पैर धोकर पानी को मैंने उँचे स्थान से नीचे की ओर जाते देखा। मैंने अपने चित्त को समाधि में लगाया।"

···दीपक के सामने बैठी ध्यान लगाई।...दीपक की वर्तिका को कुछ पीछे करने के लिये सुई को तेल में डुबोई। दीपक बुझ गया।

दीपक का निर्वाण हो गया, उसके साथ मेरे चित्त का भी।" थेरी पटाचारा की तृष्णा सदा के लिये बुझ गई। वह विनयधरों में अग्र हुई और उसने बुद्ध-शासन में अपना एक महत्वपूर्ण कीर्ति स्तम्भ स्थापित कर दिया !

नन्दा

हिमालय की तराई का प्रदेश हरा-भरा और सुन्दर है। ऊँचे-ऊँचे शुभ्र शैल-शिखर नीले आकाश को स्पर्श करते प्रतीत होते हैं। शाल और चीड़ के सघन वृक्ष वर्फीली वर्षा को सहते साधक-से सदैव खड़े रहते हैं। ऐसे प्रदेश में शाक्य जनपद का कपिल-वस्तु वह गौरव शाली नगर है, जहाँ के राजप्रासाद में भगवान् बुद्ध ने अपने बचपन के दिन व्यतीत किये थे, प्रातः स्मरणीया, गुणवती सुन्दरी यशोधरा से उनका परिणय हुआ। शिशु राहुल के जन्म के पश्चात् महाभिनिष्क्रमण की घड़ी में उन्होंने विश्वकल्याण के हेतु सर्वस्व त्याग दिया था और वर्षों कठोर तपस्या कर मार-विजेता भगवान् बुद्ध ने धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया। राजगृह, मगध और कोशल में उपदेश-सुधा से प्राणिमात्र का कल्याण करते वे कपिल-वस्तु भी पधारे थे। उस समय उनके अनुज गौतमी-पुत्र नन्द, गोपा के अंचल-धन राहुल और अन्य शाक्य-कुमारों ने प्रव्रज्या ले त्रिरत्न की शरण में जा अपने को धन्य माना था। कालान्तर में महादेवी महा-प्रजापती गौतमी के सु-प्रयत्न से स्वयं महाप्रजापती, देवीगोपा, सुन्दरिका आदि पाँच सौ शाक्य-महिलाओं ने साधना के पथ को अपनाया और प्रव्रजित को ग्रहण कर लिया।

उसी पुनीत शाक्य राज-वंश में कपिलवस्तु नगर में ही नंदा का जन्म हुआ था। अत्यन्त मनोहारी रूप होने के कारण यह सुन्दरी नंदा कहलाती थी। उसे जनपद की सर्व-श्रेष्ठ सुन्दर स्त्री "जन-पद-कल्याणी" की भी उपाधि प्राप्त थी। अनेक शाक्य-सुकुमारियाँ तो

काषाय वस्त्र धारण कर भिक्षुणी बन गईं, किन्तु सौंदर्य-शालिनी नंदा राजभवन के विलासिता-पूर्ण उपकरणों के बीच ही प्रसन्न रही। यद्यपि कपिलवस्तु का उल्लास पूर्ववत् न रह गया था, न राहुल थे, न देवी महा प्रजापती, न गोपा, न नंदपत्नी सुन्दरिका। ऐसी स्थिति में नीरवता को कुछ भूलने के उद्देश्य से रूपवती नंदा वातायन के समीप खड़ी बादलों के साथ चन्द्र की मनोरम क्रीड़ा निहार रही थी। उसके कोमल-करों के हीरक-जटित कंकण की नोकों पर रश्मियों का नृत्य हो रहा था। उर्मिल केश-राशि में गूँथी गई जूही की कलियाँ सौरभ विखेर रही थीं। मणि-दीप की आभा वातावरण को गम्भीर बना रही थी किन्तु नंदा का हृदय रह-रह कर विचलित-सा हो रहा था। अचानक ही क्षितिज से उठते एक धवल-श्यामल अभ्र-खंड ने चाँद को छिपा लिया। किरणों का नृत्य बंद हो गया। समीप के जलाशय से विरह व्यथित चक्वी पिय के वियोग में चीख उठी। उसे सुन नंदा भी सिहर गई, जूही की कलियाँ विखर गईं। नंदा ने एक दीर्घ निश्वास लिया, जैसे उसकी व्याथा अंधकार में गहन हो गई। उसने सोचा—"चक्वी तो एक पिय की याद में कितनी अनमनी हो रही है किन्तु मैं? मेरे सभी पिय-जन वैभव की अपेक्षा त्यागमय जीवन को श्रेष्ठ समझ भगवान् की शरण में जा चुके हैं। क्या प्रिय-जनों के स्नेह से ये उपकरण बहुमूल्य हैं?' उसके अन्तर की ध्वनि थी, "नहीं।" नंदा ने निश्चय कर लिया। वह भी प्रातः सब कुछ त्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण कर लेगी।

सुन्दरी नंदा अपने निश्चय के अनुसार भिक्षुणी-संघ में जा प्रव्रजित हो गई, किन्तु रूप का गर्व उसमें पूर्ववत् था। प्रिय-जनों के समीप रहने की उसकी इच्छा पूर्ण हो चुकी थी। अतः तथागत के उपदेश सुनने के लिये वह नहीं जाती थी। उसे यह भय भी था कि शास्ता कहीं उसके रूप में कोई दोष न बतायें, क्योंकि वे रूपगर्व का तिरस्कार करते हैं। किन्तु महाकारुणिक की करुणा से वह वंचित न रह सकी।

उन्होंने उसे ज्ञान-प्राप्ति की अधिकारिणी समझा और भिक्षुणी-संघ की प्रधान भिक्षुणी महाप्रजापती गौतमी को आदेश दिया कि 'समस्त भिक्षुणियाँ उपदेश सुनने आवें।'

सभी क्रम से तथागत के पास मंगलमय उपदेश सुनने गईं, किन्तु रूप-रानी नंदा ने एक भिक्षुणी को अपना प्रतिनिधी बनाकर उपदेश श्रवण करने के लिये भेजा। तथागत को उसके अज्ञान पर दया आई। उन्होंने पुनः आदेश दिया—"कोई भिक्षुणी अपना प्रतिनिधि न भेजें। बाध्य हो नंदा महाकारुणिक के सम्मुख गई। शास्ता ने अपने योगबल से वहाँ उसे एक अति सुन्दरी स्त्री के दर्शन कराये, जो धीरे-धीरे प्रौढ़ा हो गई, फिर जरा ने उसे शिथिल कर दिया। सौंदर्य चला गया, केश सफेद हो गये और कमर झुक गई। वह अदृश्य हो गई। नंदा ने चौंक-कर देखा फिर सोची—"रूप की अनित्यता, जीवन की नश्वरता, वह सिहर उठी। उसका हृदय काँप उठा और वह अपनी भूल जान गई। उसका चित्त संसार से विरक्त हो गया और वह भगवान् के चरणों में श्रद्धा से नत हो गई।

दुःख का साक्षात्कार करा महाकारुणिक ने उसे उपदेश दिया—

"नंदा? अशुचि और व्याधि के समूह शरीर को देख। समाधि में स्थित हो अशुभ भावना में मन को लगा".... ...."शरीर का परिणाम देख केवल अभिमानी लोग इसे अभिनंदनीय समझते हैं। नंदा! रात-दिन अतंद्रिल हो काया का पर्यवेक्षण करती तू अपने ज्ञान की सहायता से सौंदर्य-मोह से विमुक्त हो, सत्य को देखेगी।"

भगवान् के अमृतमय उपदेश को सुनकर वह सच्ची साधिका बन गई और ज्ञान प्राप्त के पुण्य अवसर पर गाथा के रूप में उसने कहा—

"मैंने शास्ता के उपदेश को अतंद्रिल होकर मनन किया। काया का यथार्थ स्वरूप बाहर भीतर से देख लिया तब इस देह से मुझे निर्वेद हुआ। — —

वह धन्य थी जिसे अनुपम शान्ति प्राप्ति हुई। महाकारुणिक की दिव्य-वाणी को सुनने का उसे सौभाग्य प्राप्त हुआ और "थेरी-गाथ." में आज भी उसके उद्‌गार उसके ज्ञान एवं यश के प्रतीक बने हुए हैं।

सोणा

घर को फूला फला देखकर वृद्धा सोणा सन्तोष की साँस लेती थी। क्या चाहिये था उसे सम्पन्न घर, दस सन्तानें, कई पुत्र और पुत्रियाँ, मन चाहा पति, सब कुछ था। एक दिन विशेष उत्सव का आयोजन था, हवा पीकर शान्त बैठे वृद्ध गृह-स्वामी किसी विचारों में लीन थे। सोणा ने गृह-स्वामिनी की गम्भीरता के साथ कहा—"आर्य-पुत्र! बड़ी वधू के लिये कुछ वस्त्रा-भूषण की आवश्यकता है।" गृह-स्वामी का ध्यान भंग हुआ। उन्होंने कहा—"पुत्र से कह दो वह ला देगा।"

"नहीं आप ला दीजिये। हम लोगों के रहते वह भोजन-वस्त्रों की चिन्ता करे, यह मुझे उचित प्रतीत नहीं होता।"

"किन्तु सोणा! आज बीस-बाइस वर्ष हो गये, तुम्हारे शरीर के लिये इन दो साधारण वस्त्रों के अतिरिक्त कुछ और ला दिये जायँ, क्या यह उचित नहीं? तुमने इन्हें पाल-पोष कर बड़ा कर दिया अब तो निश्चिन्त रहो।" गृह-स्वामी ने समझाते हुए कहा। वृद्धा सोणा ने समझा कि जान पड़ता है उसके पति अति-वृद्धावस्था वश अधिक मितव्ययी हो गये हैं। उसने अधिक आग्रह किया। कभी वस्त्रों, कभी आभूषणों की माँग होती। पुत्र चुप रहते थे, सोचते थे जबतक पिता गृहस्थी चला रहे हैं, तबतक आनन्द कर लिया जाय।

एक दिन तंग आकर गृहपति ने कहा—"अब बहुत हो चुका सोणा! मैं यह सब नहीं देख सकता।" सोणा भी कुछ खीझी हुई थी उन्हीं के कारण छोटी वधू के हेमहार की इच्छा वह पूर्ण न कर सकी थी। उसने कहा—"फिर क्या कीजियेगा?"

"कहीं चला जाऊँगा।" यह सुन कर सोणा ने नित्य की भाँति उन्हें मनाया नहीं। एक दिन आयेगा अब मैं नहीं रहूँगा, तब तुम सब समझोगी सोणा! और रा-रोकर मुझे "पुकारोगी।" नित्य ही ऐसी बातें सुनती सोणा पुत्र और पोत्रों में भूली रही। ऐसी स्थिति में गृहपति दुःखी हो गृह-त्याग कर चले गये।

श्रावस्ती के कुलीन परिवार में जन्म ली हुई उच्च घराने में जीवन बिताई हुई सोणा ने देखा सन्ध्या आई, रात भी हो गई, पर जीवन का सर्वस्व पति नहीं लौटा। उसने पुत्रों से कहा। पुत्रों ने इधर-उधर खोज की। पता न लगा।

एक-एक, दो दो दिन करते कितना ही समय बीत गया। सोणा मौन हो अपने कक्ष में पड़ी रहती थी। एक दिन पता लगा उसके पति सांसारिक माया-मोह को त्याग प्रव्रज्या ले त्रिरत्न की शरण में चले गये हैं।

रो रो कर आँसू बहाती सोणा क्षीण हो चली थी। उसने अपनी सारी सम्पत्ति अपने पुत्रों में बाँट दी। सभी को एकदम स्वतन्त्रता मिल गई। वधुओं ने पहले तो कुछ दिन खाने-पीने के लिये पूछा। फिर सोचने लगीं वृद्धा बैठी-बैठी खाया करती है और वे स्वयं काम किया करती हैं? स्वार्थ में उन्हें सोणा भार सी प्रतीत होने लगी। पुत्र, पुत्र वधुओं की इच्छा-पूर्ति के लिये सर्वस्व न्योछावर करनेवाली बहुपत्तिका (बहुत पुत्रों वाली) सोणा का पद-पद पर निरादर होने लगा। वधुयें अपने-अपने पति से बात बात में अपनी सास की झूठी बुराई करती थीं जिससे वे भी अपनी जननी की उपेक्षा करने लगे कई दिनों तक भूखी-प्यासी रहती सोणा को कोई न पूछता, दास-दासियाँ यदि कभी उसकी पूरी बात सुन भी लेतीं तो भी कहा हुआ कार्य नहीं करती थीं। नित्य के अपमान से उसे उसके पति का कथन याद आता था—"जब मैं चला जाऊँगा, तब तुम समझोगी सोणा!"

सोणा सब कुछ समझ चुकी थी। उसने निश्चय कर लिया, वह भी भिक्षुणी बनकर पति के पावन-पथ का अनुसरण करेगी।

दुर्बल सोणा जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों से तन ढँकी भिक्षुणी संघ में जा प्रव्रजित हो गई, किन्तु बार-बार उसे पौत्र-पौत्रियों का विहँसता मुख याद आ जाता था और चित्त में मोह एवं अशान्ति उत्पन्न होता था।

अमृतमय उपदेशों को सुन और मनन कर उसने कठिन साधना की। अपनी साधना में वह सफल भी हुई। भगवान् महाकारुणिक ने भी उसकी साधना की प्रशंसा की और दृढ़ अध्यवसाय करनेवाली भिक्षुणियों में उसे अग्रणी का पद प्रदान किया। सोणा कृतार्थ हो गई। उसने अर्हत् पद प्राप्त कर लिया।

अपने जीवन का पर्य-वेक्षण करती हुई भिक्षुणी सोणा ने गाथा-रूप में कहा है—

"जीर्ण दुर्बल स्थिति" में भिक्षुणी होने गई। धर्मोपदेश सुन केश कटवाकर प्रव्रज्या ली। मुक्ति प्राप्त कर और अनासक्त हो मैंने निर्वाण में प्रवेश किया है। अब मेरा पुनर्जन्म नहीं होगा पंच-स्कन्धों के जड़ को मैंने काट दिया है।

———

भद्रा कुण्डलकेशा

मंगल-गीतों की ध्वनि मन्द पड़ गई। श्रावस्ती के वैभवशाली एक प्रासाद-कक्ष में रूपवती तरुणी सुहाग की सेज पर बैठी थी। वह किंकिणि कंकण, हेम-हीरक-हार, बिंदिया आदि बहुमूल्य रत्नाभरणों से अलंकृत थी। वाराणसी के हेम-खचित परिधान उसकी कमल-कोमल अंगलता के सौंदर्य को छिपाने में असमर्थ हो रहे थे। पुष्पों एवं अगरु धूम से सुरभित कक्ष में बैठी वह बार-बार द्वार की ओर निहार रही थी। उसकी कजरारी आँखें किसी की प्रतीक्षा कर रही थीं। एकाएक द्वार खुला और उसके जीवन सर्वस्व युवक ने प्रवेश किया। अवगुण्ठन की ओट में तरुणी के नयन लज्जा से नत हो गये। युवक उसके समीप मौन बैठ गया। फिर धीमे स्वर से कहा—"क्या अपराधी समझकर मेरी जीवन-दायिनी हृदयेश्वरी मेरी उपेक्षा कर रही है?

तरुणी-वधू भद्रा राजगृह के धनी श्रेष्ठि की सुन्दरी गुणवती पुत्री थी। दो-चार दिन पूर्व वह अपने प्रासाद के वातायन के समीप खड़ी पथ की ओर देख रही थी। एकाएक उसकी दृष्टि कोलाहल करते जन-समूह पर पड़ी। जन-समूह उसी प्रासाद के समीप से जा रहा था। उस समूह के सामने था एक सुन्दर बन्दी युवक राजगृह के राजपुरोहित का पुत्र, सुत्थक। उसने चोरी की थी। उसी अपराध में सैनिक राजाज्ञा से प्राण-दण्ड देने उसे बध-स्थल की ओर ले जा रहे थे। भद्रा ने देखा और उस पर आसक्त हो गई। उसकी प्राप्ति के हेतु खाना-पीना छोड़कर उसी चिन्ता में डूब गई। सखियों ने समझाया, पर सब व्यर्थ हुआ। हार मानकर उन्होंने उसके माता-पिता से कहा। उन्होंने भी अपनी लाड़ली बेटी को अनेक तरह से

समझा था। भद्रा तो इस युवक को अपना सर्वस्व मान चुकी थी। विवश होकर उसके पिता ने, जो श्रावस्ती के कोषाध्यक्ष थे, बहुत सी मुद्रायें और स्वर्ण गुप्त रूप से राज-कर्मचारियों को देकर सुत्थक को मुक्त करवा दिया। फिर असंख्य रत्नाभरण से सज्जित कर उन्होंने भद्रा का विवाह उसके मनचाहे युवक सुत्थक के साथ कर दिया।

नव-परिणीता भद्रा इसी बात को सोच रही थी। वही युवक उसका पति, उसका आराध्य उसके सामने था, पर लज्जा उससे उसे बोलने भी न देती थी। सुत्थक ने पुनः कहा—"बोलो, प्रिये ! मुझे अपराधी नहीं मानतीं, फिर रुष्ट क्यों हो ?"

साहस बटोर कर वधू भद्रा ने धीरे से कहा—"नहीं, मेरे जीवन् सर्वस्व ! आप ही मेरे सब कुछ हैं, मैं तो आपकी सेविका हूँ।"

श्रेष्ठि-पुत्री भद्रा और सुत्थक का जीवन सुख-पूर्वक बीतने लगा। सुत्थक जो कुछ सोचता, उसे साकार कर पति-परायणा भद्रा प्रसन्न हो जाती थी। वह पति की इच्छा को अपनी इच्छा मानती और उसकी सेवा कर सन्तोष का अनुभव करती थी।

एक दिन भद्रा के पति ने कहा—"शुभे ! मैंने पर्वत पर स्थित देवता से मनौती की थी कि यदि मुक्त हो जाऊँगा तो देवता की अर्चना करूँगा।" मुक्त हुए बहुत दिन हो गये, अतः पूजा करना उचित है। तुम अर्चना की तैयारी करो।"

भोली भद्रा प्रसन्न मन से अर्चनार्थ थाली सजाई और बहुमूल्य वस्त्राभरण से शृङ्गार कर अपनी सखी नन्दा के साथ पति के पीछे चली। पर्वत के समीप पहुँचने पर उसके पति ने कहा—"भद्रा ! इस सेविका और अपनी सखी को गृह में वापस भेज दो। अर्चना का हेमथाल तुम स्वयं रखकर मेरे साथ चलो क्योंकि मुझे एकान्त में अर्घ्य देना है।"

भद्रा को कुछ दुःख तो हुआ किन्तु प्रिय पति की आज्ञा थी। वह स्वयं अर्चना की थाली लेकर पति के साथ पर्वत शिखर पर पहुँची और पति से पूजा करने के लिये अनुरोध किया। किन्तु सुत्थक ने कठोर मुद्रा में कहा—"समस्त आभूषण उतार दो।" भद्रा चौंक कर बोली—"क्यों? मेरे देवता! मैंने क्या अपराध किया है?" उसके पति ने क्रूर अट्टहास के साथ उत्तर दिया—"तुझे विदित था कि मैं चोर हूँ फिर भी तू मुझसे प्रेम की और मुझे मुक्त करवाई। मैंने तुझसे कहा नहीं था कि मुझे बचा ले। इसलिये समस्त आभूषण उतारकर मरने के लिये तैयार हो जा।"

भद्रा काँप गई, अनुनय-विनय की, किन्तु सब व्यर्थ हुआ। विवश हो भद्रा ने भय को मुस्कान में छिपाकर कहा—"आर्य-पुत्र! मेरी अन्तिम इच्छा पूर्ण कर दीजिये, मैं तो सदा के लिये आपसे दूर जा रही हूँ केवल एक बार, आलिंगन।" सुत्थक ने उपेक्षा-पूर्वक स्वीकार कर लिया। भद्रा ने आलिंगन करने का छल कर उसे जोर का धक्का दिया, वह धूर्त खड्ड में जा गिरा।

भद्रा का भय तो दूर हुआ। किन्तु वह निर्जन बन में अकेली खड़ी थी, हृदय वेग से धड़क रहा था। कुछ शान्त हो उसने देखा—सुदूर स्थित राजगृह को। वह लौटना चाही किन्तु रुक गई। उसने सोचा, जिस राजगृह से वह सिन्दूर लेकर शृङ्गार किये आई थी वहाँ सिन्दूर के बिना कैसे जायेगी। सबकी इच्छा के प्रतिकूल वह सुत्थक की परिणीता बनी थी। वही सुत्थक इतना धूर्त निकला। उसकी धूर्तता को, अपने प्रणय के दुखद परिणाम को वह कैसे कह सकेगी। उसका मन विरक्ति से पूर्ण हो गया। वह भूलती-भटकती निर्ग्रन्थ साधुओं के आश्रम में पहुँची। साध्वी बनकर उसने तर्क-शास्त्र का अध्ययन किया। वहाँ दीक्षा दे उसके काले-कुन्तलों का लुन्चन किया गया। उसके पश्चात् उसके जो केश बढ़े, वे घुँघराले थे इसीलिये वहाँ इसका नाम

कुण्डलकेशा पड़ गया। यह पूर्ण शिक्षा प्राप्तकर ग्राम-ग्राम में प्रचार करने लगी, साथ-साथ शास्त्रार्थ भी। इसके शास्त्रार्थ के सम्बन्ध में एक कथा प्रचलित है कि यह जहाँ जाती वहाँ ग्राम के बाहर रेत जमाकर सरकण्डे का पेड़ खड़ाकर देती थी और कह देती थी कि जो इसे बालकों से रौंदवा देगा, वह मुझसे शास्त्रार्थ करेगा। ग्राम में सप्ताह भर प्रचार कर, ग्राम की सीमा पर वापस आती और पेड़ को देखती थी। यदि पेड़ खड़ा रहा तो ठीक, नहीं तो रौंदवाने वाले के साथ शास्त्रार्थ करती थी। अनेक विद्वानों को पराजित करती हुई एकबार इसका साक्षात्कार अग्रश्रावक सारिपुत्त से हुआ। उन्होंने भद्रा से कहा—"आप ही पहले प्रश्न पूछिये ?" भद्रा ने बहुत से प्रश्न किये। अग्र-श्रावक ने सभी का सन्तोषपूर्ण उत्तर दिया। फिर भद्रा ने कहा—"अब आप प्रश्न कीजिये, भन्ते ! धर्म सेनापति सारिपुत्त ने पूछा—"एक नाम कि ?"

भद्रा कोई उत्तर न दे सकी। वह उनके पैरों पर गिर पड़ी और विनय की कि वे ही समझाने की दया करें। उन्होंने समझाया। ज्ञान से अतृप्त भद्रा तृप्त हो गई, उसे अभिनव शान्ति मिली। उसने श्रद्धा-पूर्वक कहा—"भन्ते ! मैं आपकी शरण हूँ।"

धर्म सेनापति का गम्भीर स्वर था—"शुभे भद्रा ! मेरी शरण न लो। यह सब महा-कारुणिक भगवान् तथागत के ही मंगलमय उपदेश हैं। उन्हीं शास्ता की शरण लो, तुम्हें उनके कल्याणकारी उपदेशों से अनुपम शान्ति मिलेगी।"

उनका आदेश मानकर भद्रा गृध्रकूट-पर्वत के शिखर पर गई। वहाँ करुणानिधि भगवान् बुद्ध भिक्षुओं को ज्ञान-दान दे रहे थे। भद्रा ने उनके दर्शन किये। वह हर्षातिरेक में श्रद्धा-नत हो उनकी वन्दना की।

भगवान् ने आश्वासन-पूर्ण मृदु-वाणी में कहा—"आओ, भद्रे !"

उनके श्री चरणों के समीप पहुँचकर वहीं उसकी उप-सम्पदा हुई। प्रव्रजित हो साधना एवं (बौद्ध) धर्म प्रचार करती हुई वह मगध, कोशल, काशी, वज्जि और अंग प्रदेश में घूमती रही।

ज्ञानी उपासकों ने उसे चीवर-दान दिया। भद्रा ने साधना कर, अर्हत् का श्रेष्ठ-पद प्राप्त किया।

उसका जीवन धन्य हो गया। वह मुक्त हो गई। वह विश्व को शान्ति के लिये त्रिरत्न-शरण का पावन-पथ दिखा गई जो चिर नवीन है।

भद्रा कापिलानी

वह अपने पति की सच्ची सहधर्मिणी थी। वैभव की गोद में पली और सुख के झूले में झूली थी। जब उसके पति ने सर्वस्व त्याग दिया, तब उसने भी समस्त वैभव को त्याग कर पति के पति का अनु-सरण किया।

यह रूपवती नारीरत्न सागल (स्यालकोट) के एक कौशिक गोत्रीय ब्राह्मण की पुत्री थी। ब्राह्मण बड़ा धनी था। वह अपनी प्रिय पुत्री को सदैव सुखी रखता था। कपिल ब्राह्मण की कन्या होने से कारण इसे भद्रा कपिला और भद्रा कपिलायनी भी कहा जाता था। भद्रा सुख और स्नेह में पल कर भी सद्गुणों से युक्त थी। उसे अपने ऐश्वर्य पर तनिक भी घमण्ड न था। सुशीलता, विनय एवं सेवा भावना उसके आदर्श थे।

युवती होने पर उसके माता-पिता ने मगध के एक समृद्धिशाली गुण-वान युवक के साथ अपनी कन्या का विवाह कर दिया। सात्विक गुण युक्त युवक पिप्पलि माणवक ने ऐसी सौंदर्यमयी सुलक्षणा पत्नी पा अपने भाग्य की सराहना की। भद्रा भी मनोनुकूल पति पाकर बड़ी प्रसन्न हुई। दोनों एक दूसरे के सुखों का पूरा ध्यान रखते थे। उनका सेवा-मय आदर्श जीवन नगर के श्रद्धा पूर्ण वार्तालाप का विषय बन गया।

महाकारुणिक भगवान् बुद्ध धर्म-चक्र-प्रवर्तन कर धर्म प्रचार द्वारा प्राणिमात्र को शान्ति प्रदान करने लगे। उन्होंने जन-जन को मोक्ष का कल्याण कारी पथ दिखा कृतार्थ कर दिया। जहाँ-जहाँ वे जाते थे वहाँ उनके मंगल मय उपदेश सुनकर कितने ही व्यक्ति प्रव्रजित हो काषाय

वस्त्र धारण कर साधना में लीन हो जाते थे। भद्रा के पति ने भी उनका पीयूषवर्षी उपदेश सुना और सांसारिकता से विरक्त हो गये।

अपने प्रणय के देवता की प्रतिक्षा में पलकें बिछाई प्रणयिनी तरुणी भद्रा ने देखा, उसका सर्वस्व, उसका जीवन साथी माणवक ऐश्वर्यमय जीवन को त्याग कर भिक्षु वेश में हैं। अब वे माणवक नहीं, किन्तु भिक्षु काश्यप बन कर त्रिरत्न की शरण में जा चुके हैं। तरुणी को अपने प्रिय का पावन परिधान देख कर गर्व का अनुभव हुआ साथ ही एक वियोग की सकल का भी। सुख के दिनों की एक स्मृति भद्रा की कजरारी भीगी आँखों के सन्मुख आने लगी। वह ममतामयी नारी थी फिर भी उसने अपने प्रेम को प्रिय की पथ-बाधा न बनने दिया। उसके अन्तर की पुकार थी—"भद्रे! प्रिय का अनुसरण कर उनके पथ को प्रशस्त कर दे।" अपने प्रणय के देवता की सच्ची जीवन सगिनी भद्रा ने अपनी समस्त सम्पति अपने प्रिय जनों और दीन दुखियों को दे दिया। तरुणी होकर भी यौवन के प्रथम प्रहर में सब सांसारिक सुखों को त्याग कर भिक्षुणियों के समान जीवन व्यतीत करने लगी।

भिक्षु काश्यप ने भगवान की शरण में त्रिविद्याओं को प्राप्त किया तथा अपनी साधना और ज्ञान से वे संघ में बहुत विख्यात हो गये। जब भद्रा भिक्षु काश्यप की प्रसिद्धि सुनती तो उसका हृदय आनन्द-विभोर हो हो जाता था। पांच वर्षों तक भिक्षुओं जैसा जीवन विताने के पश्चात् नारी जाति के लिए वह स्वर्णिम अवसर आया जब महादेवी महाप्रजापती गोतमी एवं भिक्षु आनन्द के सुप्रयत्नों से भिक्षुणी-संघ की स्थापना हुई। भद्रा भी विधिवत प्रव्रज्या ले उपसम्पदा प्राप्त की फिर ज्ञान-अर्जन करती साधनामय जीवन बिताने लगी। कालान्तर में उसने अर्हत् का श्रेष्ठ पद भी प्राप्त किया।

भगवान् के परिनिर्वाण के पश्चात् संघ के नियमों के पालन में शिथिलता आ गई तब भिक्षु काश्यप ने ही पाँच सौ भिक्षुओं की सभा कर प्रथम संगायन का प्रबंध किया था। भद्रा भी भिक्षुणी संघ में उच्च-स्थान प्राप्त कर चुकी थी। जेतवन में उपदेश देते समय एक बार भगवान् ने भिक्षुणियों को उनकी योग्यतानुसार पद दिया था तब पूर्वजन्म की स्मृति वाली भिक्षुणियों में अग्र स्थान प्रदान कर भद्रा को कृतार्थ किया।

इन्होंने धर्म प्रचार करते हुए शेष जीवन बिताया और निर्वाण का भी साक्षात्कार किया। पति की योग्य पत्नी, सच्ची सहचरी, त्यागमयी भिक्षुणी भद्रा ने (अपने पति) भिक्षु काश्यप का परिचय देते हुये कहा है—

"भिक्षु काश्यप भगवान् गौतम बुद्ध उत्तराधिकारी के रूप में हैं। वे त्रिविद्याओं का ज्ञान प्राप्त किये हैं।"

अन्यत्र वे अपने विषय में गाथा के रूप में कहती हैं—"मैंने त्रिविद्याओं का ज्ञान प्राप्त किया है। मैंने मार को हरा दिया, अब वह मेरा कुछ न कर सकेगा। निर्वाण का मैंने साक्षात्कार किया है।"

उन्होंने अपनी त्याग, ममता, साधना और धर्मज्ञान से अपने नारी-जीवन को सार्थक कर अन्य महिलाओं के लिए पथ प्रदर्शन किया है।

———

कृशा-गौतमी

जिसने अपने जीवन का आदर्श माना साधारण वस्त्र धारिणी, त्यागमयी भिक्षुणी को। उस पद को प्राप्त करने के लिये उसने जन्म जन्मान्तर तक कठिन साधना की। दुःखों की आंधियों के थपेड़ों से गिरती पड़ती उसे उस महान ज्योति की शरण दिखाई दी जिसने उसके अंधकार के आवरण को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और उसे मुक्ति का मंगलमय पथ दिखाया। वह उस ओर साहस पूर्वक बढ़ती गई तथा अर्हत् का श्रेष्ठ पद प्राप्त करने में सफल हुई। इस नारीरत्न का नाम था "गौतमी।"

नारी को जन्म के साथ ही प्रायः उलझनों में उलझना पड़ता है और वह निर्धन घर की लाड़ली बेटी हो तो दुख, उपेक्षा, ताने कठोर श्रम की उत्तुंग लहरों में डूबती उतराती हुई बार बार निर्धनता के कगार से टकराना पड़ता है, जहाँ उसका कोमल हृदय उसकी सांसारिक महत्वाकांक्षायें चूर चूर हो जाती हैं। श्रावस्ती के एक गरीब घर की पुत्री गौतमी बचपन से दुबली पतली होने के कारण कृष्ण गौतमी कहलाती थी। किसी प्रकार माता-पिता की छाया में कुछ स्नेह, सुख का अनुभव करती गौतमी बाल्यावस्था बिताकर तरुणी हुई। माता-पिता ने सोचा, किसी अच्छे घर में विवाह हो जाने पर अपनी दुखिया पुत्री को वे सुखी देख सकेंगे, किन्तु सर्वस्व न्यौछावर करके भी वे उसे सुखी न बना सके।

ससुरगृह में पैर रखते ही सास-ननंद परिजन सभी ने उपेक्षा और और व्यंग से उसका स्वागत किया। आँसुओं को आँचल में छिपाकर, व्यंग बाणों को सहती सुनती, पति और सास-ससुर की सेवा करती थी। घर के समस्त कार्य उसे ही करना पड़ता था। दिन निकलने के पहले से सबके शयन के पश्चात् तक सतत परिश्रम। कृशा-गौतमी के जीवन में

वसन्त आया। वह गर्भवती हुई और उसको एक पुत्र उत्पन्न हुआ। नव-शिशु सुन्दर था। उसके सास-ससुर ने देखा। अपने वंश के दीपक पौत्र को। उनके हर्ष की सीमा न रही। पौत्र की माता के रूप में उन्होंने अपनी पुत्र-वधू गौतमी के साथ अच्छा व्यौहार करना प्रारम्भ किया।

अपनी माता के सुख-सौभाग्य का प्रतीक बालक बड़ा होकर नये नये खेल खेलने लगा। कृशा बच्चे को सँवारती, दुलारती और उसकी क्रीड़ाओं को देख प्रसन्न होती थी। एक दिन उस पर अचानक ही वज्र सा गिरा। उसके पुत्र को साँप ने डँस लिया और बालक मर गया। कृशा पछाड़ खाकर गिर पड़ी। मूर्छा टूटने पर वह मृत पुत्र को ले उन्मत्त सी हो पथ पथ पर घूमती हुई कहती थी कि कोई उसके पुत्र को ऐसी दवा दे जिससे वह जी उठे।

नागरिक-नागरिकायें उसे देखकर दुःख प्रगट करते, पर उसका दुःख दूर करना उनके वश के बाहर की बात थी। किसी ने कहा—'कृशा! भगवान् तथागत तुझे ऐसी ओषधि दे सकेंगे।'

भगवान्-धर्म-प्रचार करते घूम रहे थे। कृशा ने उन्हें देखा और दौड़-कर उनके चरणों पर गिर पड़ी। रो रो कर उसने कहा—"वह पति और गृह की उपेक्षिता नारी है, उसका एक मात्र सहारा उसका पुत्र ही था वह भी उससे छिन गया, भगवान् उसे जीवित कर दें उस पर दया करें।"

भगवान् ने उस शोक विह्वला माता को बहुत समझाया, पर उसका रोना न रुका। तब उन्होंने कहा—"गौतमी! तुम राई ले आओ पर ऐसे घर से लाना, जहाँ कभी कोई न मरा हो, फिर तुम्हारा पुत्र जी उठेगा।"

गौतमी घर-घर, द्वार-द्वार जाती और मुट्ठी भर राई को भीख माँगती थी। दयालु नर-नारी उसे देते थे तब वह पूछती थी कि उसके यहाँ कोई मरा है नहीं? ऐसा कोई घर नहीं मिला जहाँ कोई भी न मरा हो। अंत में निराश कृशा गौतमी भगवान् के श्री चरणों के समीप पुनः लौट

आई उसने कहा—"भगवान् ! राई तो नहीं मिली, जैसी (राई) लाने की आप आज्ञा दिये थे। ऐसा कोई भी घर नहीं, जहाँ कोई व्यक्ति मृत्यु को न हुए हों।" उसने भगवान् की सुधावर्षिणी वाणी को सुना, समझा और उनके श्री चरणों में नत हो गई। वह मंगलमय उपदेश था—"कृशे ! जन्म-मरण संसार का नियम है। दुःख तुम पर ही नहीं पड़ा, सभी पर पड़ता है फिर तुम्हीं इतनी दुखी क्यों हो ?" उसके मन का शोक रूपी अंधकार मिट गया। वह अपने मृत पुत्र का अंतिम संस्कार कर प्रव्रज्या ले, भिक्षुणी हो गई। त्रिरत्न की शरण में जा धर्म ज्ञान प्राप्त करती हुई उसने अर्हत्व प्राप्त कर लिया।

अपने पूर्व जन्म का अनुभव करते हुये उसने कहा है—पूर्व जन्म में वह क्षत्रियय सामन्य की लावण्यवती कन्या थी। भगवान् पद्मोत्तर बुद्ध के समय में वह उपदेश सुनने जाया करती थी। एक दिन एक त्यगमयी साधारण वस्त्र-धारिणी भिक्षुणी को भगवान् द्वारा प्रशंसित देख भिक्षुणी बनने की इच्छा की किन्तु उस जन्म में प्रयत्न करती हुई भी वह अपनी इच्छा पूर्ण न कर सकी।

दूसरे जन्म में भगवान् गौतम बुद्ध के समय में वह श्रावस्ती के एक निर्धन परिवार में जन्म ले, दुख उठाती हुई महाकारुणिक की शरण में पहुँच गई और उसकी जन्म जन्मान्तर की कामना पूर्ण हुई।

ज्ञान-प्राप्ति के उल्लास में उसने जो गाथा कही है—संसार की अनित्यता, नारी जीवन के दुःखों और निर्वाण के सुख का सुन्दर चित्रण उसमें है। आज कृशा गौतमी तो नहीं है किन्तु उसकी कही हुई गाथायें उसकी स्मृति को सामने ला देती हैं।

भिक्षुणी कृशा गौतमी ने गाया है—"स्त्री जन्म दुःख है। ऐसा मनुष्यों के चित्त को शान्त करने वाले भगवान् तथागत ने कहा है।" "संतान प्रसव दुःख है। भ्रूण कभी माता के पेट में आ, अपना और गर्भवर्ती माता का विनाश कर देता है।

दुःखों से दुःखी हो कोई सुन्दरी विष खा लेती है। फाँसी लगाकर आत्म-हत्या कर लेती है।

किन्तु अमरतागामी आर्य आष्टांगिक मार्ग का पालन कर मैंने निर्वाण का साक्षात्कार किया।

मृत्यु से परे अमृत, निर्वाण को प्राप्त कर लिया।" अन्यत्र वे कहती हैं—"मैं आज वेदना मुक्त हूँ। मेरे कर्तव्य पूरे हो गये। मैं कृशा गौतमी यह कहती हूँ।"

भिक्षुणी कृशा-गौतमी ने चिर-दुखिया नारी के दुखों का चित्रण करते हुए स्पष्ट कर दिया कि त्रिरत्न की शरण में उसे दुःखों से त्राण मिल जाता है।

शृगाल-माता

नीले अम्बर, धरती और अन्तरिक्ष से अन्धकार का आवरण हट गया। अपने पूज्य पिता के आज्ञानुसार नित्य की भाँति वह सुन्दर युवक सरोवर के किनारे पहुँचा। विहग बालकों के कलरव, भ्रमरों के गुन-गुन और प्रातः समीर की स्फूर्ति-दायिनी लहरियों ने उसमें एक उल्लास का संचार किया। वह हर्षित मन से सरोवर के सुनील जल में उतरा और स्नान किया। उसके वस्त्र भींगे थे। काले केशों से जल की बूँदें टपक रहीं थीं। प्राची की ओर क्षितिज में लालिमा बिखेरती उषा सरक रही थी। उसने उस पूर्व दिशा की ओर नत-मस्तक हो प्रणाम किया। फिर पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशाओं की भी अर्चना कर उन्हें भी प्रणाम किया।

इसी भाँति नित्य की पूजा-बेला के समय एक दिन महाकारुणिक भगवान् तथागत उस ओर पधारे। उन्हें उस युवक की अनभिज्ञता पर दया आई। वे उसके सन्मुख जा पहुँचे। युवक ने उन महान् तेजस्वी (भगवान्) को श्रद्धा-पूर्वक प्रणाम किया। भगवान् ने उसे आशीर्वाद दिया और पूछा—"तुम नित्य ही दिशाओं की पूजा करते हो, इस अर्चना का सच्चा अर्थ क्या है?" युवक मौन था। उसे कुछ विदित न था। उसने भगवान् की ओर कातर नेत्रों से निहारा। भगवान् तथागत ने विभिन्न दिशाओं के विभिन्न तत्वों को उसे समझाया और उपदेश दिया कि "उन तत्वों पर श्रद्धा रखना चाहिये। उनके (तत्वों के) अनुसार आचरण कर गृहस्थाश्रम चलाना उत्तम होता है।"

युवक ने कल्याण-कारिणी गम्भीर वाणी सुनी। वह प्रभावित हो त्रिरत्न की शरण ग्रहण कर लिया। इस वार्ता को कहने के पश्चात् जो-जो उपदेश वह श्रवण करता उन्हें (वह) श्रद्धा-पूर्वक अपनी जननी को भी सुनाया करता था।

उसकी विदुषी एवं गुणवती माता उन उपदेशों को ध्यान लगाकर सुनती थी और उनके पालन का पूर्ण प्रयत्न कर सन्तोष का अनुभव करती थी। भगवान् के मंगलमय उपदेशों में धर्म का स्पष्ट सिद्धान्त था। उससे प्रभावित हो उस युवक की श्रद्धामयी जननी के हृदय में संसार के प्रति विरक्त भावना जागृत हो उठी और वह प्रसन्नता-पूर्वक भिक्षुणी-संघ में चली गई। वहाँ उसने विधिवत्-प्रव्रज्या ले काषाय-वस्त्र ग्रहण कर लिया। भगवान् के उपदेशों के अनुसार वह साधना एवं शील-पालन में जीवन व्यतीत करने लगी।

एक दिन भगवान् विहार के प्राङ्गण में अवस्थित हो उपदेश सुधा से श्रद्धालु-जनों की ज्ञान-तृषा को शान्ति प्रदान कर रहे थे। सभी का मन उसमें लगा था। तभी सन्मुख बैठी, उसी युवक श्रृगाल की माता ध्यान में एकाग्र-चित्त हो गई। भगवान् के ज्योतिर्मय-स्वरूप को निहारती हुई, उपदेश-श्रवण में नितान्त-तल्लीन हो चुकी थी। महाकारुणिक भगवान् ने देखा उसकी श्रद्धा सीमा पर पहुँच चुकी है। उन्होंने उसे अर्हत्व के श्रेष्ठ-पद को प्राप्त करने का साधन बतला तत्काल अर्हत् बना दिया।

एक समय जेतवन-महा-विहार में भगवान् ने, भिक्षुणियों को उनकी योग्यतानुसार पद दिया, तब उन्होंने श्रृगाल-माता को उसकी अगाध श्रद्धा के कारण श्रद्धामयी भिक्षुणियों में प्रथम घोषित किया।

इस श्रद्धामयी भिक्षुणी श्रृगाल-माता का जन्म राजगृह नगर के एक कुलीन परिवार में हुआ था। बचपन से ही इनकी श्रद्धा भगवान् बुद्ध पर थी। ये शील, ममता, दया आदि गुणों से युक्त सुन्दरी थीं।

वयः प्राप्त होने पर इनका विवाह वहीं के एक सद्गुण-सम्पन्न युवक के साथ हो गया। गृहणी के रूप में इन्होंने अपने पति को अपने कर्तव्यों एवं सद्व्यौहार से सदा प्रसन्न रखा। वे भी ऐसी धार्मिक, सुशीला पत्नी पा अपने भाग्य की सराहना किया करते थे। हँसते-हँसाते सुख के दिन बीतने लगे और इन्होंने एक तेजस्वी पुत्र प्रसव किया, जिसका नाम रखा गया "शृगाल"

शृगाल, माता-पिता का आज्ञाकारी पुत्र था। युवक होने पर पिता के द्वारा बताई गई दिशाओं की पूजा के आदेश का पूर्णतः पालन करता था। इसी दिशाओं की पूजा-बेला में भगवान् ने अर्चना का रहस्य समझा कर उसे उपदेश दिया था। श्रद्धालु उपासक के रूप में शृगाल ने बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की और उसकी श्रद्धामयी जननी "शृगाल-माता" के नाम से विख्यात हुई।

कालान्तर में श्रद्धामयी भिक्षुणी शृगाल-माता ने अपने पूर्व-जन्म का अनुभव करते हुए कहा कि उन्होंने पूर्व-जन्म में हंसावती नगरी में जन्म-धारण किया था। भगवान् पद्मोत्तर बुद्ध पर उनकी असाधारण-श्रद्धा थी। वे विहार में जातीं और धर्मोपदेश श्रवण कर स्वयं को धन्य मानती थीं। एक दिन विहार में धर्मोपदेश के पश्चात् भगवान् पद्मोत्तर ने भिक्षु-भिक्षुणियों को उनकी योग्यतानुसार पद दिया। एक श्रद्धामयी भिक्षुणी को इन्होंने श्रद्धावती भिक्षुणियों में प्रथम स्थान दिया। इन्हें भी लालसा हुई कि दूसरे जन्म में मैं भी वही महान्-पद प्राप्त करती।

भगवान् गौतमबुद्ध के समय में इनका जन्म एक श्रेष्ठ-कुल में हुआ और इनकी जन्म-जन्मान्तर की आकांक्षा पूर्ण हुई। इन्हें महा-कारुणिक भगवान् गौतमबुद्ध ने श्रद्धामयी भिक्षुणियों में प्रमुख स्थान प्रदान किया। धन्य थी वह नारी-रत्न शृगाल-माता जो त्रिरत्न की शरण में जा श्रद्धावती-भिक्षुणी एवं अर्हत्व के महान्-पद प्राप्त कर कृतार्थ हो गई।

सुजाता

निरंजना, जो आजकल फल्गू नदी कहलाती है, उसके एक ओर है बोध-गाया और दूसरे तट पर है सेनानी बन। सेनानी सरदार के नाम पर ही उस बन और ग्राम का नाम सेनानी पड़ गया था। सेनानी के पास बहुत सी जमीन और गायें थीं। यह सेनानी ग्राम उसी उरुवेला के पावन-प्रदेश में था जहाँ कुमार सिद्धार्थ ने ज्ञान प्राप्ति के लिए कठिन तपस्या की और बुद्धत्व प्राप्त कर भगवान् बुद्ध के रूप में प्राणिमात्र का कल्याण किया। आज भी वहाँ बट, पीपल, इमली, आम और जामुन की सुन्दर वृक्षावलियाँ मानव को मुग्ध कर देती हैं। वहाँ का अणु-अणु पावनता प्रदान कर रहा है।

उन्हीं सेनानी की गुण एवं रूपमयी कन्या-रत्न का नाम सुजाता था। रूप की रानी सुजाता को अपने सौंदर्य का किंचित भी अभिमान नहीं था। वह मधुर हँसी बिखेरती अपने पिता के यहाँ की गायों को खिलाती-पिलाती और देख-भाल करती थी। कभी-कभी मुग्धा सी गायों और धवल-श्यामल बछड़ों को स्नेह पूर्वक निहारा करती थी। सुशीलता एवं विनय उसके निर्विकार मुख-मंडल पर सदैव शोभित रहता था। जो उससे मिलता, प्रसन्न हो जाता था। विनय-शीला सुजाता को ग्राम के समीप बट-वृक्ष के देवता पर बड़ी श्रद्धा थी। उस समय यह कथा प्रचलित थी कि जो कोई भी सच्चे हृदय से जिस वस्तु की कामना करता था वह अवश्य पूर्ण होती थी। श्रद्धामयी सुजाता ने बट-वृक्ष के बन-देवता को स्मरण कर कामना की थी कि "मनचाहा वर और प्रथम पुत्र हो जाय तो निर्जल दूध की खीर का नैवेद्य चढ़ा कर मैं पूजा करूँगी।"

सद्गुणों से युक्त उस सौंदर्यमयी तरुणी ने यौवन के द्वार पर पैर रखा और एक सुन्दर, गुणशाली, सम्पन्न युवक से उसका विवाह हो गया। युवक अपनी पतिपरायणा पत्नी के सुख-सौभाग्य का पूरा ध्यान रखता था और उसे प्रसन्न देख कर संतोष प्राप्त करता था। कोमल-हृदया प्रणयिनी सुजाता भी पति के सुख में ही अपना सुख मानती हुई सदैव उनके प्रति अपने कर्तव्यों का ध्यान रखती थी। कालान्तर में हर्ष-विभोर सुजाता ने एक सुन्दर पुत्र प्रसव किया। सुजाता की कामना पूर्ण हुई। पति-पत्नी दोनों के प्रसन्नता की सीमा न रही। श्रद्धा-शीला सुजाता का हृदय कृतज्ञता से पूर्ण हो गया अपने वन-देवता के प्रति। उसे मनचाहा पति भी प्राप्त हो गया था और सुन्दर पुत्र भी।

वह अर्चना के हेतु अपने पति एवं पुत्र के साथ अपने पिता के यहाँ गई। वैशाख-पूर्णिमा की पावन घड़ियों में उसे उन वन-देवता की पूजा करनी थी। नैवेद्य खाने के लिए उसे निर्जल दूध की आवश्यकता थी। दूध के लिये उसने उत्तम प्रबंध किया। एक हजार गायों का दूध दुह कर पाँच सौ गायों को पिलाया जाता था। पाँच गायों का दूध ढाई सौ गायों को, और ढाई सौ गायों का दूध आठ गायों को पिलाया जाता था। ऐसी पुष्ट आठ गायों के दूध से उसने वैशाख-पूर्णिमा के शुभ पर्व पर खीर बनाया अपनी सेविका को वट-वृक्ष के समीप का स्थान स्वच्छ करने के लिए भेज, वह स्वयं श्रद्धा-पूर्वक पूजा की तैयारी करने लगी।

दासी ने वट-वृक्ष के नीचे जाकर देखा—एक दिव्य पुरुष साधना में लीन, अवस्थित है। उन्हें उसने साक्षात् वन-देवता समझा। वह प्रसन्नता से झूम उठी। बड़ी शीघ्रता से वृक्ष के समीप को झाड़-बुहार कर उसने स्वच्छ बनाया और हर्षित मन से अपनी स्वामिनी के पास जा एक साँस में उन दिव्य देवता का वर्णन कह गई। साक्षात् "वन-देवता!" सुजाता सुनी, उसका मन नाच उठा। वस्त्राभरण से शोभित हो हेम-थाल में उस निर्जल पायस (खीर) को ले

कल्याणी सुजाता वट-वृक्ष के पास पहुँची। कुछ समय तक उन ज्योतिर्मय महान साधक को अपलक निहारती रही, उसने भी समझा उसके पुण्य से (उसे) साक्षात् देवता दर्शन दे रहे हैं। वह श्रद्धा नत हो उनकी वन्दना तथा धूप-दीप और पुष्पों से अर्चना की। फिर निर्जल सुवासित खीर को अर्पित कर मुग्धा सी ध्यान-समाप्ति की प्रतिक्षा करने लगी। दासी तो हर्षातिरेक में नाचती हुई उच्च स्वर से गुण-गान कर रही थी। वर्षों से साधना रत भगवान् का ध्यान पूर्ण हुआ उन्होंने आँखें खोलीं।

श्रद्धा से पुलकित सुजाता ने गद्गद् स्वर में विनय किया—"देव ! मैंने कामना की थी कि मन चाहा वर एवं सुन्दर पुत्र प्राप्त कर सकी तो इस वट-वृक्ष के वन-देवता को निर्जल दूध का पायस अर्पित करूँगी। आप को वन-देवता का प्रतीक मानकर हमने आपकी अर्चना की है। मेरी मनोकामना पूर्ण हुई है देव ! यह पायस आपको समर्पित है। इसे ग्रहण कर मुझे कृतार्थ करें।"

भगवान् ने निरंजना के जल में स्नान किया, निरंजना धन्य हो गई। (वर्षों के कठोर तप एवं उपवास के पश्चात्) उन्होंने उस पायस को ग्रहण कर नवीनता एवं बल का अनुभव किया, फिर गम्भीर वाणी कहे— "शुभे ! मैं तुम्हारे पुत्र को यशस्वी होने का आशीर्वाद देता हूँ। तुम धर्म से क्या समझती हो ?"

भोली सुजाता ने कहा—"देव ! अच्छे कार्यों से मन को शान्ति मिलती है और बुरे कार्यों का परिणाम बुरा होता है। धैर्य, सेवा ममता के साथ सत्कार्य करना ही मुझे धर्म प्रतीत होता है।" भगवान् प्रसन्न हो गये। उन्होंने उसकी श्रद्धा एवं बुद्धि की सराहना करते हुए कहा— "कल्याणी ! तुम भी मुझे आशीष दो जैसे तुम्हारी कामना पूर्ण हुई उसी प्रकार मेरी विश्व-कल्याण की कामना पूर्ण हो।"

सुजाता का रोम रोम कृतज्ञ हो गया। उसका मौन आशीष था—"हृदय की कामना है, देव ! प्राणि-मात्रके कल्याण का आपका पावन लक्ष्य पूर्ण हो।"

निर्जल पायस को ग्रहण कर सुजाता से विदा ले वहाँ से जाकर बोधि-वृक्ष की शीतल छाया में वज्रासन की मुद्रा में अवस्थित हुए। मार का मन काँप उठा। वह स-सैन्य उनके सम्मुख आया। सौंदर्य काम-कन्याओं, तरुणियों का विलासिता पूर्ण नृत्य, गीत उन देव-पुरुष पर कोई प्रभाव न डाल सका, तब उसने अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग किया। आँधी-तूफान-वर्षा से उनके मनोरथ सिद्धि में बाधा डालना चाहा। किन्तु सब व्यर्थ हुआ। मार पर भगवान् ने विजय प्राप्त की और उन्हें बुद्धत्व प्राप्त हुआ। देवताओं ने पुष्प वृष्टि की।

वे भगवान् बुद्ध बनकर धर्म-चक्र-प्रवर्तनार्थ ऋषिपतन मृगदाय की ओर बढ़ गये। सुजाता ने सुना, कितना हर्ष हुआ होगा उसे ! जिस नारी-रत्न को यह सौभाग्य प्राप्त हुआ कि उसके कोमल करों द्वारा बनाये पायस को भगवान् ने ग्रहण किया और उनके शरीर की शिथिलता कुछ कम हुई। उसीको ग्रहण कर उन्होंने वज्रासन लगाया और विश्व कल्याण-कारी बोध को प्राप्त कर भगवान् बुद्ध हुए तथा प्राणि-मात्र की विपत्ति को हरण किये।

जब तक बौद्ध साहित्य है, श्रद्धामयी सुजाता की गाथा, पावन कथा कभी विस्मृत न होगी। आज निरंजना के पार उसका भव्य प्रासाद नितान्त खंडहर के रूप में उस युग की याद दिला रहा है। वन-वृक्षों की शीतल छाया से दिखाई देते सुजाता कुटी के ध्वंसावशेष, आकाश चूमता पावन मन्दिर और सघन तरुराज बोधिवृक्ष सुजाता के श्रद्धापूर्ण पायस अर्पण एवं भगवान् की बोधप्राप्ति की पुण्य घड़ियों की स्मृति को साकार सा कर देता है, और (वैशाख पूर्णिमा) बुद्ध-पूर्णिमा की पावन घड़ी में श्रद्धा-विभोर मन बरबश कह पड़ता है—"कल्याणी सुजाता तुम धन्य थी और धन्य थी तुम्हारी श्रद्धा।"

विशाखा

साकेत नगर के करोड़पति सेठ धनञ्जय की अपूर्व रूपवती सुकुमारी कन्या विशाखा का विवाह श्रावस्ती के मिगार-श्रेष्ठि नामक धनिक के पुत्र पूर्ण-वर्धन के साथ हुआ। शहनाई की मधुर ध्वनि और मंगल-गीतों के बीच रत्नाभरणों से सज्जित नव-वधू (विशाखा) को उसके माता-पिता ने विदा किया। आँसुओं से भींगी विशाखा अपने पिता के दस उपदेशों को सुनी और उनके पालन का वचन दिया। श्रेष्ठि धनञ्जय का हृदय कातर हो उठा, उसने पुत्री को हृदय से लगाकर आशीर्वाद दिया, किन्तु उसका मन न माना और विशाखा एवं पूर्ण-वर्धन के साथ श्रावस्ती तक गया। वहाँ कन्या के सुख का पूर्ण प्रबन्ध कर वापस साकेत आ गया। विशाखा का पतिगृह अत्यन्त धन-वैभव से पूर्ण था फिर भी पिता की ममता न मानी, इसी से उसने अपनी लाड़ली बेटी को अधिक दुःख न उठाना पड़े, इसकी भी व्यवस्था कर दी थी।

श्रावस्ती की जिस स्त्री ने नव-वधू विशाखा को देखा, वही उसकी सुशीलता एवं सौंदर्य पर मुग्ध हो गई। लज्जा से अरुणिम सुन्दर वदन, उर्मिल केशराशि, सिंदूरित मस्तक पर शोभित बिन्दिया से सजी नत कँजरारी आँखों वाली वधू कंकणमय मेंहदी मण्डित करों से सयानी-वृद्धाओं के चरण-स्पर्श करती तो वे बरबस कह पड़ती थीं—"अचल सौभाग्यवती रहो, सुलक्षणे!"

सास-ससुर ने वधू की प्रशंसा सुनी, वे प्रसन्न हुए। उसके पति ने सुना अपनी प्रिया के सौंदर्य एवं गुणों का वर्णन, उसे अपने भाग्य पर गर्व हुआ। इस मंगल-उत्सव के अवसर पर धनी श्रेष्ठि ने निर्ग्रन्थ-

श्रमण-संघ को भोजन-दान के हेतु आमन्त्रित किया। अगरु-धूम से सुवासित कक्ष में मिगार-श्रेष्ठि ने श्रमणों को सुन्दर आसनों पर आदर-पूर्वक स्थान दिया और उन्हें पायस (खीर) आदि के भोजन करा सन्तुष्ट किया। विशाखा बचपन से ही महाकारुणिक भगवान् तथागत एवं भिक्षु,संघ पर अत्यन्त श्रद्धा रखती थी। वह भी सुनी कि श्रमणों को भोजन-दान दिया गया है; तो बड़ी प्रसन्न हुई। तभी उसके ससुर ने कहलाया—"वधू-रानी भी अर्हतों की वन्दना कर लें।"

वधू विशाखा जानती थी कि बौद्ध-भिक्षु अर्हत् कहलाते हैं। अतः अपने ससुर का आदेश सुन बहुत ही हर्षित हुई और वह रत्नाभरण एवं सुन्दर परिधान से शोभित, श्रद्धा-विभोर हो अतिथि-कक्ष की ओर धीरे-धीरे चली। द्वार पर पैर रखते ही उसने अपने झीने अवगुण्ठन की ओट से देखा, निर्ग्रन्थ साधुओं को। उसके पैर ठिठक गये, वह आगे न बढ़ सकी, सोची थी काषाय-चीवरधारी भिक्षु-गण होंगे किन्तु...।

ससुर ने समझा, लज्जाशीला वधू लज्जावश आगे नहीं बढ़ रही है, पर श्रमणों से लज्जा कैसी? उसने मृदु-स्वर में कहा—"आओ पुत्री! श्रमणों से आशीर्वाद लो।"

पतली गोरी उँगलियों से उसने मुख पर पड़ा झीना अवगुण्ठन उठाया। नव-वधू की लज्जा के स्थान पर एक उपेक्षा थी साथ ही अपमान का अनुभव भी। उसने गम्भीर स्वर में कहा—"आर्य! आप क्या कहते हैं? क्या निर्वस्त्र व्यक्तियों के बीच मैं आऊँ? आपकी पुत्र-वधू इतनी निर्लज्ज नहीं। क्षमा करें तात!" वह शीघ्र ही अपने कक्ष में वापस चली गई। उसका बदन सिहर उठा! वह सोचने लगी—"ऐसे गृह में अब उसका निर्वाह कैसे होगा?"

निर्ग्रन्थ साधुओं ने सुना, वे क्रोध से काँप उठे। शील और दया को तिलांजलि दे उन्होंने तीव्र स्वर में कहा—"श्रेष्ठि! हमारा इतना

अपमान ? क्या तुम्हें संसार में यही स्त्री पुत्र-वधू मिली ! इसका यह दुस्साहस अक्षम्य है।"

श्रेष्ठि ने भोली, नासमझ तरुणी की उच्छृङ्खलता बताकर उनसे क्षमा माँगी और भविष्य में विशाखा को सब प्रकार से समझाने का बचन दिया। उनके चले जाने के पश्चात् श्रेष्ठि स्वयं भोजन करने के लिये बैठा। वधू विशाखा उसे भोजन परोस कर पंखा करने लगी। तभी एक काषाय-चीवरधारी भिक्षु द्वार पर आये, कुछ पल रुके और जाने लगे। श्रेष्ठि ने उस ओर देखा और मुँह फेर फिर भोजन करने लगे। श्रद्धामयी विशाखा ने समझा, उसके ससुर उसे कुछ आदेश देंगे ताकि वह जाकर दान दे सके, किन्तु उन्हें मौन देखकर वह स्वयं ही कही—"भन्ते ! मेरे ससुर बासी भोजन कर रहे हैं, आप अन्यत्र जावें।"

श्रेष्ठि मिगार ने सुना, उसे विशाखा पर पहले से ही क्रोध था, अब सीमा के बाहर हो गया। उसने क्रोधावेश में थाली सरका दिया और कठोर स्वर में कहा—"मेरे घर से निकल जा दुर्विनीते ! मेरा अपमान करते तुझे लज्जा नहीं आती, कर्कशा, उन्मत्त ! "दास-दासियों ने भी गृह-पति का तीव्र स्वर सुना, वे भी कक्ष में आ गये। तब श्रेष्ठि ने उसे आदेश दिया —"निकाल दो, इस दुर्विनीता को।"

अपनी श्रद्धा के प्रतीक श्रमणों के प्रति अपने ससुर की अश्रद्धा से विशाखा पहले से ही दुखी थी। उसका स्वाभिमान जाग उठा। उसने गम्भीर वाणी में कहा—"आर्य ! मैं आप की क्रय की हुई सेविका नहीं हूँ। आपके पुत्र की परिणीता हूँ। आपकी पुत्र-वधू हूं। इस गृह में मेरा भी अधिकार है। यहाँ से मुझ निर्दोष को कोई नहीं निकाल सकता। फिर मेरे पिता ने आठ गृहस्थों से कहा है। वे ऐसे समय में न्याय करें। यदि वे मुझे अपराधिनी घोषित करेंगे। तो मैं इस गृह को त्याग कर

कहीं भी चली जाऊँगी। आप ने भी इसे स्वीकार किया था, आर्य !',

श्रेष्ठि ने उसका उचित उत्तर सुना, वह कुछ शान्त सा हुआ। उसने उन कुलीनों को बुलाया और उनसे कहा—"यह बधू बार-बार मेरा अपमान करती रहती है। मैं ताजा बने हुए खीर का भोजन कर रहा था। इसने एक भिक्षु के सामने मुझे बासी भोजन करनेवाला बताया।"

अष्ट-कुलीनों ने उससे पूछा—"बेटी ! तुमने अपने आदरणीय ससुर के लिए ऐसा क्यों कहा ?"

विशाखा का विनयपूर्ण स्वर था—"आर्यो ! मेरे ससुर पुराने पुण्य पर ही संतोष किये बैठे थे। द्वार पर आये हुए श्रमण को दान देकर नवीन पुण्य प्राप्त करना नहीं चाहे। इसीलिए मैंने कहा था वे बासी भोजन कर रहे हैं।" सभी ने सुना और संतुष्ट होकर मिगार श्रेष्ठि से कहा—"बधू ने ऐसा कोई अपराध ही नहीं किया फिर हम इसे कैसे दंड दे सकते हैं।"

इस पर मिगार श्रेष्ठि पुनः बोला—"इसके पिता इसे न जाने क्या सिखा गये हैं और उनका मनमाना अर्थ निकाल कर यह उच्छृङ्खल होती जा रही है।"

कुलीनों ने पुनः उससे पूछा—"पुत्री उन शिक्षाओं को हमें समझा सकोगी ?"

बिशाखा ने स्वीकार करते हुये कहा—"मेरे पिता ने मुझे जो दस शिक्षायें दी हैं उनका मैं पालन करती हूँ। वे हैं—

भीतर की आग बाहर न लाना। अर्थात् सास-ससुर ननद, जेठ-जेठानी आदि की कोई निंदा करें तो उसे मन में न रखें न घर में कहा जावे।

तीसरी शिक्षा है जिस व्यक्ति से जो चीज ली जाय वह वस्तु निश्चित समय पर उसे लौटा दी जावे ।

चौथी है, जिस व्यक्ति से कोई वस्तु लें वह दूसरे को वापस न कर उसे ही वापस करें ।

पाँचवीं शिक्षा है प्रिय जन यदि निर्धन हों तो उनकी आवश्यकतानुसार वस्तुयें यथा—सामर्थ्य उन्हें दें ।

छठीं शिक्षा के अनुसार गृहणी का कर्तव्य है कि वह सब को भोजन करा ले फिर स्वयं भोजन करें ।

सबके शयन करने के पश्चात् गृह लक्ष्मी विश्राम ले यह सातवीं शिक्षा है ।

ऐसे स्थान पर बैठें जहाँ किसी को असुविधा न हो जिससे कोई बार-बार उठने के लिये न कहें । आठवीं शिक्षा का तात्पर्य है ।

नवीं शिक्षा है ब्राह्मण जैसे अग्नि की परिचर्या करते हैं उसी भाँति पूर्ण निष्ठा से पति की परिचर्या करना पत्नी का कर्तव्य है ।

और दसवीं शिक्षा है सास-ससुर आदि को गृह-देवता की भाँति समझ कर उनकी सेवा एवं सुख का ध्यान रखें ।

आर्यो ! मैं इनका सच्चे हृदय से पालन करती हूँ ।" अष्ट कुलीनों को को विशाखा के उत्तर से बड़ी प्रसन्नता हुई । उन्होंने श्रेष्ठि से कहा—"ऐसी गृहलक्ष्मी पर क्रुद्ध होना और उसे कष्ट पहुँचाना अशोभनीय है ।"

मिगारश्रेष्ठि को अपनी भूल विदित हो गई । उसने कहा—"वधू ! मुझे क्षमा करें ।" शीलवती वधू विशाखा ने अनुनयपूर्ण वाणी में कहा—"आर्य ! आप मेरे पूज्य हैं । मुझसे क्षमायाचना कैसी ? किन्तु आप निर्ग्रंथों पर श्रद्धा रखते हैं और मैं बौद्ध-श्रमणों के प्रति; इससे सदैव उलझन बनी रहेगी । मुझे भी दुख सहना पड़ता है इसलिये इसका कोई प्रबंध कर दीजिये तो उत्तम हो ।"

इस पर मिगार श्रेष्ठि ने उसे बौद्ध-भिक्षुओं को दान-पुण्य देने की स्वीकृति दे दी। उसने निर्ग्रंथों को समझा दिया कि वह उन्हें भी दान से प्रसन्न रखेगा। निर्ग्रंथों ने उसे पूर्ण रूप से कह दिया कि "विशाखा बुद्ध दर्शन करे तो करने दो, किन्तु तुम उस मायावी के दर्शन मत करना।"

ससुर की आज्ञा पा सुलक्षणा वधू विशाखा ने एक दिन भगवान् तथागत और भिक्षु संघ को भोजन के हेतु श्रद्धा पूर्वक आमंत्रित किया। उन्होंने स्वीकार कर लिया और विशाखा के घर पर पधारे। अपनी सखियों सहित विशाखा ने स्वयं आदरपूर्वक उन्हें यथोचित आसनों पर बिठाया और श्रद्धा-पूर्वक भोजन-दान दे, उपदेश सुनने का प्रबंध किया।

श्रेष्ठि-वधू (विशाखा) के आमंत्रण पर श्रावस्ती के अनेकानेक नर नारी उपदेश सुनने के लिये एकत्रित हुए। उसके बार बार विनय करने पर उसके ससुर ने भी उपदेश सुनना स्वीकार कर लिया, पर निर्ग्रंथों के कथनानुसार भगवान् बुद्ध के दर्शन न हों, इसके लिये वह परदे की ओट में बैठ गया।

विशाखा के विनय पर महाकारुणिक भगवान् तथागत अपनी उपदेश सुधा से जन-जन की ज्ञान-तृष्णा को शान्त करने लगे। श्रद्धालु मुग्ध होकर सुन रहे थे। मिगार श्रेष्ठि भी श्रद्धा-विभोर हो गया। उसकी बुद्धि से अंधकार का आवरण हट गया। उसे पश्चात्ताप हुआ कि वह कितना अज्ञानी है जो स्वयँ को अपने घर आये हुए देवता के दर्शन से विमुख रखा है। उसने परदा झटक दिया और भगवान् के चरणों पर गिर कर कहने लगा—"देव ! मुझे क्षमा करें। आज मेरे नेत्र खुल गये। अंधकार नष्ट हो गया। मैं भी त्रिरत्न की शरण हूँ।"

भगवान् ने अपनी करुणा से उसे आश्वासन दिया। मिगार श्रेष्ठि को कुछ शान्ति मिली। उसने अपनी शीलवती वधू के विषय में निवेदन किया—"देव ! इस श्रद्धामयी नारी-रत्न के कारण ही मुझे आज यह

सु-अवसर प्राप्त हुआ। आज से यह मेरी धर्म की माता है।" वधू के पुण्य से ससुर भी कल्याण कारी पथ का पथिक बन गया। धन्य है उस पुण्यशीला वधू विशाखा को।

श्रावस्ती के नरनारी उस पर पूर्ण श्रद्धा रखते थे। वह मिगार-माता के नाम से उस दिन से प्रसिद्ध हुई। एक समय उसने भिक्षु-संघ को भोजन, वस्त्र औषधि आदि का दान दे भगवान् से प्रार्थना की थी:—

"भन्ते ! मैं भगवान् से कुछ वरों को माँगती हूँ।"

"विशाखे ! तथागत वरों से परे हैं।"

"भन्ते ! वे वर निर्दोष और उचित हैं।"

"बोल विशाखे !"

"भन्ते ! (१) मैं संघ को जीवन भर वर्षा की लुङ्गी (=वस्सिक साटी) देना चाहती हूँ, (२) आगन्तुक भिक्षुओं को जीवन भर भोजन देना चाहती हूँ। (३) यात्रा पर जाने वाले भिक्षुओं को भी जीवन भर भोजन देना चाहती हूँ। (४) रोगी भिक्षुओं को भी जीवन भर भोजन देना चाहता हूँ। (५) रोगी भिक्षुओं की सेवा करने वाले लोगों को भी जीवन भर भोजन देना चाहती हूँ। (६) रोगी भिक्षुओं को औषध जीवन भर देना चाहती हूँ। (७) सदा मैं यवागु (=कंजी) देना चाहती हूँ। और (८) भिक्षुणी-संघ को उदकसाटी (=ऋतुमती का कपड़ा) देना चाहती हूँ।"

भगवान् ने विशाखा द्वारा माँगे हुए इन आठ वरों को प्रसन्नता-पूर्वक प्रदान किया। ये वर कैसे उत्तम और बुद्ध-शासन के लिये उप-योगी थे ! विशाखा—जैसी गुणवती एवं श्रद्धालु उपासिका ही ऐसे महान् आठ वरों को तथागत से माँग सकती थी।

विशाखा के ससुर ने उसकी सुप्रेरणा से पूर्वाराम नामक रम्य उपवन में एक भव्य प्रासाद का निर्माण करवाया और उसे भगवान् तथा भिक्षु-संघ को

दान कर दिया। वह भवन "मिगार-माता-प्रासाद के नाम से संघ की निवास-स्थली रही।

अब वह प्रासाद ध्वंस हो गया है किन्तु मिगार-माता अर्थात् वधू-विशाखा की श्रद्धा एवं दानशीलता की कहानी आज भी पालि-साहित्योद्यान में सुरभित पुष्प की भाँति सौरभ विखेर रही है।"

खुज्जुत्तरा

खुज्जुत्तरा एक निम्न कहे जाने वाले समुदाय की स्त्री थी, जिसके लिये तत्कालीन समाज में कठिन श्रम-पूर्वक जीविका चलाना ही कर्तव्य था। उसका नाम था उत्तरा, किन्तु कुबड़ी होने के कारण वह खुज्जुत्तरा के नाम से पुकारी जाती थी। वह कौशाम्बी नरेश उदयन की पटरानी श्यामावती की सेवा में रहती और दासी का कार्य किया करती थी। रानी उससे नित्य आठ कार्षापण के पुष्प मँगाया करती थीं। खुज्जुत्तरा चार कार्षापण स्वयं चोरी से रख लेती थी और चार कार्षापण के पुष्प क्रय कर अपनी स्वामिनी रानी श्यामा के समीप ले जाती थी।

एक दिन खुज्जुत्तरा, रानी के लिये पुष्प खरीदने जा रही थी। मार्ग से उसने देखा उपवन के समीप सुन्दर सघन वृक्ष की शीतल छाया में एक देव-तुल्य तेजस्वी श्रमण अपनी मंगलमयी वाणी से उपदेश दे रहे थे; और सभी व्यक्ति मन्त्र-मुग्ध उस उपदेश को सुन रहे थे। वह भी समीप जाकर खड़ी हो गई। उसे उपदेश कुछ शान्तिप्रद प्रतीत हुआ, इसलिये वह भी एक ओर बैठ कर उसे सुनने लगी। कल्याणी वाणी थी—"गृहपतियो! जब व्यक्ति दुराचरण को पहचान लेता है और उसका मूल कारण विदित कर लेता है। सदाचरण को पहचान लेता है और उसका भी यथार्थ कारण विदित कर लेता है तब उसकी दृष्टि सम्यक् हो जाती है इसलिये स्वयं का पर्यवेक्षण श्रेयस्कर है यही सम्यक् दृष्टि का रहस्य है।"

खुज्जुत्तरा ने सुना, उसे एक नवीनता एवं हर्ष का अनुभव हुआ। वह उनके मंगलमय उपदेश को मनन करती हुई पुष्प लेने चली गई। उसने समझ लिया तुच्छ क्षणभंगुर जीवन में भी वह चोरी जैसा

आचरण कर रही है। क्या चोरी करना उचित है? उसकी स्वामिनी उस पर विश्वास करती है और वह उनके साथ कृतघ्नता का व्यौहार कर रही है। विचारती हुई खुज्जुत्तरा का मन क्षोभ से भर गया। फिर क्या होगा? उसके मन नें कहा। खुज्जुत्तरा ने दृढ़ निश्चय कर लिया जो हो गया है उस अपराध को समय देखकर अपनी स्वामिनी से कह देगी और भविष्य में भगवान् तथागत के उपदेशों का पालन करेगी।

खुज्जुत्तरा अपने निश्चय के अनुसार आठ कार्षापण के पुष्प खरीद कर अपनी स्वामिनी को दे दी। कुछ दिनों तो रानी श्यामावती मौन रहीं। एक दिन उन्होंने पूछ ही लिया—"खुज्जुत्तरा! पहले तू थोड़े से फूल लाती थी, कुछ दिनों से अधिक कैसे लाने लगी है?" खुज्जुत्तरा के लिये परीक्षा का समय था। वह नित्य ही भगवान् के उपदेश सुनती और उसके पालन करने का प्रयत्न करती थी। इसलिये वह सत्य पर दृढ़ रही, उसने अपने स्वामिनी से कुछ न छिपाया और कह दिया—कि "स्वामिनी! क्षमा करें। पहले मैं चार कार्षापण चोरी से रख लिया करती थी। एक दिन भगवान् का मंगल-मय उपदेश सुनी और अपने चार कार्षापण चोरी से रख लेने के अपराध को समझ गई। तब से आठ कार्षापण के फूल आपके लिये लाती हूँ।"

विदुषी रानी श्यामावती ने सेविका की बात सुनकर सोचा कि एक नासमझ दासी में जिनके उपदेश से इतना परिवर्तन हो गया, उनके उपदेश कितने कल्याणकारी होंगे। उन्होंने दासी से उन सभी उपदेशों को पूछ लिया जो वह सुनी थी। भगवान् तथागत के प्रति उनकी श्रद्धा बढ़ गई। उन्होंने खुज्जुत्तरा को दासी पद से मुक्त कर राज-महिलाओं में स्थान दिया। उस दिन से खुज्जुत्तरा का कार्य था भगवान् के उपदेश सुनना और रानी श्यामावती तथा उनकी सखियों एवं सेविकाओं को सुनाना। उपदेशों का पालन करती रानी श्यामावती को भगवान् तथागत के दर्शन की बड़ी लालसा थी किन्तु उनके श्री-चरणों के समीप जा

सकने का कोई उपाय न देख वे वातायन से उनके दर्शन कर मन ही मन वन्दना कर लेती थीं और अपने इस पुण्य का श्रेय खुज्जुत्तरा को देती थीं।

धीरे-धीरे खुज्जुत्तरा धर्म-मार्ग की ओर बढ़ने लगी। वह जो उपदेश सुनती उसे याद कर लेती थी और उसके पालन का पूर्ण प्रयत्न करती थी। इसी प्रकार उसने बुद्ध-शासन को पूर्ण कर लिया। वह त्यागमयी भिक्षुणियों की भाँति जीवन व्यतीत करने लगी। त्रिरत्न की शरण में उसने अनुपम आल्हाद पाया। फिर भी वह काषाय ग्रहण न की, जीवन भर अपनी स्वामिनी रानी श्यामावती का कुछ न कुछ कार्य करती रही। वह भी सोचती थी स्वामिनी की उदारता से उसे भगवान् के मंगल-मय उपदेश श्रवण एवं दर्शन के सौभाग्य प्राप्त हुए और होते रहे। इसलिये रानी श्यामा के प्रति उसने अपने कर्तव्य का निर्वाह किया।

महाकारुणिक भगवान् उसकी साधना, सदाचार एवं कर्तव्य-शीलता से प्रसन्न होकर उसे बहुश्रुता उपासिकाओं में सर्व-श्रेष्ठ घोषित कर कृतार्थ कर दिये। खुज्जुत्तरा धन्य हो गई, जिसने भगवान् के उपदेशों को सुना और उनके अनुसार जीवन को सुधार कर धर्म का साक्षात्कार कर लिया। वह उपेक्षित श्रेणी की स्त्री होकर उच्चकोटि का स्थान प्राप्त कर ली। उसने शास्ता के दिये ज्ञान का दर्शन अपने जीवन में कर लिया।

———

श्यामावती

श्यामावती, भद्रावती नगर के एक श्रेष्ठि की सुन्दरी कन्या थीं। माता-पिता की एक ही पुत्री होने के कारण इनका लालन-पालन बड़े प्रेम एवं सुख के साथ हुआ था। स्वभाव से शान्त एवं भोली बालिका श्यामा माता-पिता का बड़ा आदर करती थीं और उनकी सेवा कर प्रसन्न होती थी। श्रेष्ठि ने उसकी शिक्षा-दीक्षा का भी उचित प्रबंध कर दिया था। उसने अल्प समय में अपनी तीव्र बुद्धि से बहुत कुछ शिक्षा प्राप्त कर लिया।

एकाएक प्लेग की बिमारी से भद्रावती उजड़ने लगी। हाहाकार मच गया, जिस ओर दृष्टि जाती थी मृतक ही मृतक दिखाई पड़ते थे। सृगालों, चीलों की चीखों और फड़फड़ाहट से जैसे मृत्यु की छाया घूम रही थी। श्यामा के परिवार के सभी लोग प्लेग की बीमारी के आहार बन गये, इसलिये सेठ अपनी लाड़ली पुत्री और पत्नी को लेकर कोशाम्बी चले गये। वहाँ उसका एक मित्र रहता था। दोनों मित्रों की कभी आपस में भेंट नहीं हुई थी, केवल संदेशों द्वारा ही मैत्री हुई थी। कौशाम्बी पहुँच कर नगर के बाहर एक झोपड़ी में तीनों असहाय प्राणियों ने शरण ली। पारिवारिक व्यक्तियों के शोक में व्याकुल श्रेष्ठि दम्पति ने अपनी दयनीय स्थिति में मित्र का पता लगाना उचित न समझा। कई दिन बीत गये। समय के बीतने के साथ स्मृतियाँ भी धुँधली पड़ने लगीं। कई दिनों के निरंतर भूख ने उन्हें नितान्त क्षीण बना दिया। उन्होंने अपनी प्यारी पुत्री से कहा—"बेटी ! अब तो कुछ शेष नहीं है, भिक्षा का अन्न ही लेना होगा। किन्तु भिक्षा लाने की भी तो सामर्थ्य नहीं।"

श्यामा की आखें भींग गईं। उसने किंचित् साहस कर कहा—"तात! आपकी श्यामा भिक्षा लायेगी।"

घोषित नामक एक धनी श्रेष्ठि नित्य निर्धनों तथा भिखारियों में भोजन बँटवाया करता था। वह स्वयं दान शाला में जा सेवकों का कार्य देखता था कि वे उचित वितरण करते हैं या नहीं?" भिखारियों के समूह में भद्रावती की निर्धन असहाय श्रेष्ठि-कन्या श्यामा भी भिक्षा-पात्र लिए खड़ी थी। तीन व्यक्तियों के लिए भोजन माँग कर वह झोपड़ी में पहुँची। तीनों ने अपनी क्षुधा का निवारण किया। कई दिनों के भूखे, अशक्त उसके पिता वह भोजन न पचा सके और पत्नी तथा पुत्री को अनाथ छोड़कर चल बसे। उसकी माता दारुण-दुःख से विक्षिप्त सी हो गई। श्यामा अपनी एक मात्र आधार माता के लिये भिक्षा लाई। उसकी उन्मादिनी सी माता ने बहुत सा अन्न खा लिया। अशक्त तो वह थी ही, न पचा सकने के कारण वह भी मर गई।

तीसरे दिन श्यामा एक ही पात्र लेकर गई और रोती हुई पात्र को सामने लिये खड़ी रही। सेठ ने समझा कि वह पहले झूट बोलकर अधिक भोजन ले जाती थी आज एक ही क्यों?" क्या अधिक नहीं खाया जाता?"

श्यामा के रुके हुये आँसुओं का बाँध टूट पड़ा, उसने रोते रोते अपने दुर्भाग्य की कहानी सुना दी। श्रेष्ठि घोषित उसके पिता का वही अदृष्ट मित्र था। अपने मित्र की दुखद मृत्यु पर उसे अत्यन्त शोक हुआ। उसे अनाथिनी श्यामा पर बड़ी दया आई। वह अपने घर ले जाकर अपनी ज्येष्ठ पुत्री बना सुख से रखने लगा और दानशाला का कार्य उसे ही सौंप दिया। सहानुभति पूर्वक सहर्ष दान बाँटती श्यामा से दान पाकर याचकों को बड़ा संतोष होता था। उसे साक्षात् अन्नपूर्णा की भाँति समझ उसे शान्तिपूर्वक दान लेते थे। व्रत के साथ दान देने के कारण श्रेष्ठि घोषित श्यामा को आदर से श्यामावती कह कर पुकारता था।

एक दिन घोषित का मित्र श्रेष्ठि घोषित के घर आया। उसने श्यामा की कार्य-कुशलता, विनयशीलता एवं सात्विक सौंदर्य को देखा; उसके मन में श्यामा के प्रति ममता के भाव आये। उसने श्रेष्ठि घोषित से श्यामा के विषय में पूछा। समस्त दशा सुन कर उसने स्नेह से श्यामा के मस्तक पर हाथ रखा और कहा—"आज से मैं भी तुम्हें अपनी ज्येष्ठ पुत्री का पद देता हूं साथ ही पाँच सौ स्त्रियों का परिवार भी।"

यमुना स्नान के महोत्सव का पर्व था। इस उत्सव में सम्मिलित होने वाली प्रत्येक स्त्री को बिना वाहन के ही स्नानार्थ जाने का नियम था। नगर की कितनी ही वैभवशालिनी महिलायें पैदल जा रही थीं। अपनी पाँच सौ सहेलियों एवं सेविकाओं के साथ सुन्दरी श्यामा भी राजभवन के सामने राज-पथ से गई। कौशाम्बी-नरेश उदयन ने अपने प्रासाद के वातायन से देखा तारिकाओं सी पाँच सौ महिलाओं के मध्य मंजुल इंदु की भाँति श्यामा को। उसने सोचा यदि मैं इसे अपने राज-निकेतन में ला सकता तो बड़े सौभाग्य की बात होती। उसने पूछा—"ये नर्तकियाँ कौन हैं?" इस पर पता लगा कर बताया गया कि ये नर्तकियाँ नहीं श्रेष्ठि घोषित की ज्येष्ठ कन्या श्यामावती और उसकी सखियाँ हैं।

श्यामा की रूप-माधुरी पर मुग्ध नरेश, श्रेष्ठि से श्यामा को देने का प्रस्ताव किया किन्तु श्रेष्ठि ने अस्वीकार कर दिया। इस पर क्रुद्ध हो राजा उदयन ने श्रेष्ठि के प्रासाद को घेर लिया। श्यामा स्नान कर के लौटी और मकान को सैनिकों से घिरा हुआ देख उसने उसका कारण अपने पिता (श्रेष्ठि घोषित जो उसे पुत्री मानते थे) से पूछा। कारण जानकर कुछ सोचती हुई बोली "तात! यदि महाराज (उदयन) मेरी पाँच सौ सखियों एवं सेविकाओं को भी मेरे साथ राज-भवन में स्थान दें

तो मैं उनकी आज्ञा स्वीकार करने के लिये प्रस्तुत हूँ।" उसकी वार्ता से प्रसन्न होकर उसके पिता ने उदयन से कहा।

राजा उदयन ने श्यामा का कथन स्वीकार कर लिया और उसे अपनी प्रधान राज महिषी का पद दिया।

श्यामावती को वीणा बजाने की रुचि थी। कोमल उँगलियाँ पतले तारों पर नृत्य करती थीं और उदयन अपनी प्रणयिनी रानी श्यामा के के साथ उस झंकार से मुग्ध हो जाते थे। वह उसके रूप, गुण और प्रेम पर न्यौछावर था। राजरानी श्यामावती को पुष्पों से भी प्रेम था। वह नित्य ही अपनी सेविका खुज्जुत्तरा से आठ कार्षापण के पुष्प मँगाया करती थी। खुज्जुत्तरा नित्य ही चार कार्षापण के फूल क्रय करती थी और चार स्वयं रख लेती थी। वह एक दिन भगवान् तथागत का उपदेश सुनी और हर्षावेश में आठों कार्षापण के फूल ले गई। रानी श्यामा द्वारा अधिक फूल लाने के कारण पूछे जाने पर उसने सब सत्य कह दिया। धार्मिक भावनामयी रानी श्यामावती प्रभावित हुई और उसे दासी के पद से मुक्त कर राजमहिलाओं में स्थान दिया। उसका कार्य था स्वयं जाकर भगवान् के उपदेश सुनना और उन्हें रानी श्यामावती को सुनाना। श्रद्धाशीला श्यामा भगवान् पर अत्यन्त भक्ति रखने लगी। उसकी शास्ता के दर्शन की लालसा तीव्र होने लगी पर वह दर्शन एवं वन्दना के हेतु बिना राजाज्ञा के कैसे जा सकती थी। आज्ञा मिलना कठिन कार्य था। अतः वह वातायन से चारिका एवं धर्म उपदेश के हेतु जाते हुए भगवान् का दर्शन कर लिया करती थी। वातायन छोटा था उससे स्पष्ट दिखाई न पड़ता था अतः उसने वातायन को बड़ा बनवा लिया था।

बहुत समय पूर्व भगवान् ने उसकी सपत्नी मागंदी के रूप का तिरस्कार किया था। इससे मागंदी भगवान् से विमुख रहती थी। श्यामा पटरानी हो गई थी और भगवान् पर अत्यन्त श्रद्धा रखती थी। इसीलिये

रानी मागंदी उससे ईर्ष्या रखती और उसे कष्ट देने के उपाय किया करती थी। उसने राजा उदयन को श्यामावती पर रुष्ट करने के लिये कहा—"श्यामा, गौतम को चाहती है, आपको नहीं। इसी से वातायन को चौड़ा करवा लिया है ताकि उसे नित्य देख सके।" राजा, रानी श्यामवती के स्वभाव को जानते थे इसलिये भगवान् के प्रति ऐसे शब्द सुन उन्होंने मागंदी को कड़ी बातें कहीं। उसे सुनकर दुर्विनीता मागंदी ने कहा—आप रानी श्यामा से कहिये कि वह आपके लिये मुर्गों का मांस बनाये।" रानी श्यामा के पास जीवित मुर्गे भेजे गये "पाणातिपाता वेरमणी सिक्खा पदं समादियामि।" शील का पालन करनेवाली श्यामा ने वह कार्य विनयपूर्वक अस्वीकार कर दिया। तब मागंदी ने राजा उदयन से यह कहलाकर पुनः मुर्गे भिजवाये कि गौतम के लिये मांस बना दे और स्वयं उन मुर्गों को छिपकर मरवा दी। इस प्रकार दूसरी बार मागंदी के छल से रानी श्यामा को मारे गये मुर्गे मिले। उसने उन्हें पका दिया। छल द्वारा मागंदी ने अपनी बात सिद्ध कर दी और उदयन, रानी श्यामा पर रुष्ट हो गये।

फिर भी मागंदी की ईर्ष्या शांत नहीं हुई। एक दिन राजा उदयन के पास रानी श्यामावती द्वारा भेजी गई वीणा में उसने एक विषधर सर्प को छिपा दिया। राजा ने देखा विषधर, उसे निश्चय हो गया कि मागंदी सत्य कहती है, श्यामा मुझे अवश्य ही मार डालना चाहती है। वह क्रोध से कांप उठा। उसने श्यामावती को मार डालने के लिये धनुष उठाकर तीर साधा। निर्दोष श्यामा और उसकी सखियों ने मन ही मन भगवान् महाकारुणिक की वन्दना कर मैत्री-भावना की। राजा का तीर ज्यों का त्यों रह गया। उसने धनुष-बाण पृथ्वी पर फेंककर अपनी भूल पर पश्चात्ताप किया और रानी श्यामावती से कहा—"मुझे क्षमा कर दो, प्रिये! तुम निर्दोष हो।" श्यामा मृदुतापूर्वक उत्तर दी—"आप मेरे स्वामी हैं। मुझसे क्षमा न मांगिये। मैं आपसे रुष्ट नहीं

हूँ। यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो मुझे भगवान् के दर्शन हेतु जाने की स्वीकृति दे दीजिये।"

राजा उदयन ने उसे बिहार में जाने और दान-धर्म करने की आज्ञा दे दी। श्यामा ने पुनः विनय किया—"देव! एक स्थविर का प्रबन्ध कर दीजिये जो मुझे धार्मिक-सिद्धान्तों को समझा दें।"

राजा ने भगवान् से विनय-पूर्वक अनुरोध कर आनन्द स्थविर को इस कार्य के हेतु पाया। रानी श्यामावती उनसे धर्म-ज्ञान सीखने लगी। थोड़े समय में ही वे धार्मिक सिद्धान्तों को भी समझने लगी। उन्होंने एक दिन श्रद्धा-पूर्वक आनन्द स्थविर को चीवर-दान दिया जिसमें पाँच सौ बहुमूल्य उत्तरासंग उन्होंने अर्पित किया था।

मागन्दी ईर्ष्या से उन्मत्त सी हो रही थी। एक दिन वह राजा को साथ लेकर दूर बन में गई और अपने चाचा से कहकर श्यामा के प्रासाद में आग लगवा दी।

निरपराध रानी श्यामावती और उसकी सहेलियाँ उसी अग्नि में जलकर मृत्यु को प्राप्त हो गईं।

राजा मागन्दी के साथ जब वापस आये तो निर्दोष रानी श्यामावती और उनकी सखियों के दुखद अकाल-मृत्यु का समाचार सुन वे बड़े दुःखी हुए उन्होंने मागन्दी के षड्यन्त्र को जानकर उसे और उसके क्रूर रिश्तेदारों को गर्म तेल के कड़ाहों में डलवा दिया। मागन्दी को उसके क्रूर कार्यों का फल मिल गया।

एक दिन जेतवन बिहार में श्रद्धामयी रानी श्यामावती की वार्ता चलने पर महाकारुणिक भगवान् तथागत ने उसकी अकाल दुखद मृत्यु का कारण पूर्व-जन्मों का कर्म-फल बताया और उसे मैत्री-विहारिणी उपासिकाओं में सर्वश्रेष्ठ पद प्रदान कर कृतार्थ कर दिया।

———

उत्तरा नन्द-माता

महाकारुणिक भगवान् की मंगलमयी वाणी धरा से अम्बर तक गूँज उठी। सुनील-सागर की लहरें उसे प्रतिध्वनित कर धन्य हो गईं। गृह-गृह, प्रासादों कुटीरों में उनके उपदेशों का पालन होने लगा। जिससे प्राणि-मात्र को विपत्ति से त्राण मिला। उन्हीं दिनों (भगवान् के जीवन-काल में) राजगृह में सुमन श्रेष्ठि नामक एक धनी सेठ रहता था। उसके सेवक का नाम था पूर्ण श्रेष्ठि। निर्धन पूर्ण अपने स्वामी की आज्ञा पालन करता और भगवान् के दिव्य उपदेशों के अनुसार चलने में प्रयत्नशील रहता था। राजगृह में एक महान् उत्सव का आयोजन था। श्रेष्ठि सुमन सपरिवार उसमें सम्मिलित होने जा रह था। उसने पूर्ण को बुलाया और आदेश दिया—"पूर्ण! निर्धन व्यक्तियों के लिये उत्सव क्या है, कुछ नहीं, अतः खेत पर हल चलाने जाओ। इसके बदले में तुम्हें कुछ अधिक धन दे दूँगा।" पूर्ण ने अपने स्वामी की आज्ञा अपनी पत्नी से कही। निर्धन नारी ने भी उसे स्वीकार कर लिया और प्रसन्न मन से पति को खेत पर जाने के लिये बिदा की। पति के जाने के पश्चात् पूर्ण-पत्नी मध्यान्ह के समय ले जाने के लिये जो कुछ सामग्री थी उससे भोजन बनाने लगी।

राजगृह का धनिक-वर्ग उत्सव में तल्लीन था और निर्धन पूर्ण हल चलाने नगर से बाहर खेतों की ओर चला गया। कुछ समय हल चला-कर वह विश्राम करना चाहता था कि उसकी दृष्टि अग्र-श्रावक सारिपुत्त पर पड़ी क्योंकि महाथेर सारिपुत्त उस दिन "निरोध-समापत्ति" से उठते ही विचार किये थे कि वे किसी दीन-दुःखी का उपकार करेंगे। इसीलिये

वे उसकी ओर आ रहे थे उनके आते ही उनकी वन्दना कर पूर्ण ने उन्हें पानी और दातौन अर्पित किया। हाथ-मुख धोने से निवृत्त हो अग्र-श्रावक नगर की ओर प्रस्थान किये। श्रद्धाशील निर्धन पूर्ण ने सोचा-'यदि, मेरी पत्नी भोजन ले आई होती तो इन्हें भोजन दे मैं कृतकृत्य हो जाता।'

मध्यान्ह का समय हो रहा था अतः पूर्ण की पत्नी रूखा-सूखा भोजन लिये शीघ्रता से अपने पति के पास जा रही थी। मार्ग में उसने अग्रश्रावक सारिपुत्त को आते देखा। उनके दर्शन से वह श्रद्धामयी नारी हर्ष का अनुभव की और पति को मना लूँगी सोचकर महाथेर की वन्दना की। फिर साथ रखे भोजन को उसने उन्हें दान कर दिया। उन्होंने उस श्रद्धामय दान को अपने पात्र में ले लिया और "इच्छा पूर्ण हो।" कह आशीर्वाद देकर चले गये।

वह पुनः घर गई और जल्दी-जल्दी दूसरी बार भोजन बनाकर पति के पास पहुँची। पति को प्रतीक्षा करते देख क्षमा माँगती हुई बोली—"मेरे सर्वस्व! आज मुझे मार्ग में अग्रश्रावक मिल गये थे। मैंने सोचा ऐसा अवसर बार-बार नहीं आता। अतः भोजन दान दे दूँ। इसीलिये आपके हेतु पुनः भोजन बनाकर लाने में विलम्ब हुआ।" श्रेष्ठि पूर्ण पत्नी का कथन सुन बहुत प्रसन्न हुआ—और कहा "मेरी भी यही इच्छा थी, शुभे!" वह खा-पीकर पत्नी की जाँघ पर सिर रख कर सो गया। उठने पर उसने देखा जोता हुआ समस्त खेत सोने के डलों से पूर्ण था। पहले तो वह कुछ निश्चय न कर सका किन्तु परीक्षा करने पर सत्य ही पाया। निर्लोभी पूर्ण अपनी पत्नी को वहीं बैठने का आदेश दे, थाली भर सोना लेकर राजा के समीप गया और उन्हें सम्पूर्ण घटना सुनाकर सोना उन्हें दे दिया। राजा ने सब सोना मँगवा लिया और पूर्ण पर प्रसन्न होकर उसे धन-धान्य दे धनी श्रेष्ठियों में स्थान प्रदान किया।

पूर्ण को त्रिरत्न पर बड़ी श्रद्धा थी। अतः वह इसके उपलक्ष्य में भगवान् तथागत और भिक्षु संघ को सात दिनों तक दान देता रहा। अंतिम दिन अपनी एक मात्र सुलक्षणा पुत्री उत्तरा के पूर्ण और पूर्ण पत्नी ने भगवान् का मंगलमय उपदेश सुना जिससे तीनों श्रद्धालु उपासक-उपासिकाओं को स्रोतापत्ति फल को प्राप्ति हुई।

सुमन श्रेष्ठि ने गुणवती सुन्दरी उत्तरा को पुत्र-बधू बनाने की इच्छा प्रगट की और शुभ बेला में हर्ष-उत्सव के बीच उत्तरा का परिणय सुमन श्रेष्ठि के पुत्र के साथ हो गया। कुछ दिन नव-बधू के रूप में उत्तरा दान धर्म से विलग सी रही। एक दिन उसने अपने पति से विनय किया कि वह प्रतिमास आठ दिन उपोसथ-व्रत करना चाहती है किन्तु उसके पति ने अस्वीकार कर दिया। विवश उसने पुनः अनुरोध किया कि वर्षा काल में तीन महीने ही व्रत करने दें। उसे इसकी भी आज्ञा न मिली तब उसने एक माह के लिये कहा फिर एक पक्ष के लिए। उसके पति का तीव्र स्वर था—"एक दिन के लिये भी तुम्हें व्रत करने की आज्ञा नहीं मिलेगी।"

व्यथिता उत्तरा को लगा कि उसका जीवन बन्दिनी से भी दयनीय है जिसे व्रत, दान की भी आज्ञा नहीं। विवश हो उसने अपने पिता के पास संदेश भेजा कि वह तनिक भी पुण्य नहीं कर पाती बन्दिनी सा जीवन व्यतीत कर रही है। इसलिये पंद्रह सहस्त्र कार्षापण भेज दें।

अपनी एक मात्र पुत्री के लिये उसके पिता पूर्ण ने शीघ्र ही कार्षापण भेज दिये। उन्हें प्राप्त कर वह नगर की प्रसिद्ध गणिका सिरिमा को बुलवाई और कहा—"बहिन! मैं पंद्रह दिन तक उपोसथ व्रत करना चाहती हूँ तुम मेरे पति की इन दिनों में परिचर्या करना इसके लिये मैं तुम्हें वे पंद्रह सहस्त्र कार्षापण दे रही हूं।" गणिका से स्वीकृत ले उसने अपने पति से विनय किया कि वे सिरिमा को साथ रख लें और

उसे व्रत करने दें। उसके पति उसका वह कथन मान लिया। श्रद्धा-विभोर उत्तरा नित्य भगवान् की शरण में जा उपदेश सुनती हुई व्रत-पूर्वक समय बिताने लगी। व्रत करते चौदह दिन बीत गये। विसर्जन का दिन था। उत्तरा (दान के हेतु) जलपान, एवं अर्चना का प्रबंध कर सुन्दर सात्विक वस्त्रों से सुशोभित हो दान की तैयारी करने लगी। तभी अचानक उसकी दृष्टि वातायन की ओर गई दूसरे कक्ष में उसके पति सिरिमा के साथ खड़े थे। किन्तु उसकी ओर ध्यान पूर्वक देख रहे थे। उत्तरा के देखते ही उसके पति मुस्करा उठे। उत्तरा के अधरों पर स्थिति की बिजली चौंध गई। वह लज्जा से झुक गई। सिरिमा ने देखा उसका प्रेमी अपनी पत्नी उत्तरा की ओर आकृष्ट है। वह ईर्ष्या से भर उठी और क्रोध से काँपती हुई उत्तरा के पास आई। उसे दूर से आते देख उत्तरा मैत्री-भावना में निमग्न बैठी रही। सिरिया ने चूल्हे पर चढ़ी कड़ाही का खौलता तेल उत्तरा पर डाल दिया। मैत्री बल से वह उत्तरा के लिये शीतल जल सा हो गया निर्दोष स्वामिनी पर प्रहार होते देख दासियाँ दौड़ीं और उन्होंने सिरिमा को बहुत डाँटा—"मूल्य लेकर पंद्रह दिन के लिए आई हुई गणिका ! तू स्वामिनी के साथ ऐसे कठोर कृत्य कर रही है। पापिनी।"

सिरिमा को उसका अपराध विदित हो गया और वह उत्तरा के पैरों पर गिर पड़ी। उसने रो रोकर कहा—"आर्ये ! क्षमा करो।"

उत्तरा ने शान्त स्वर में कहा—"मैं अभी नहीं। भगवान् के सामने क्षमा कर दूँगी।"

भगवान्, भिक्षु-संघ के साथ निमंत्रित होकर उत्तरा के घर पधारे। उन्हें उचित आसन पर आदर-पूर्वक स्थान दे उत्तरा ने भोजन-दान दिया। तत्पश्चात् सिरिमा वहाँ आ भगवान् के चरणों के समीप-गिर कर क्षमा माँगने लगी। महाकारुणिक का उपदेश पा उत्तरा ने सिरिमा

को क्षमा कर दिया और अपने समीप उपदेश सुनने के लिये बैठा लिया। मंगलमय उपदेशों और इस गाथा को सुनकर वह गणिका भी स्रोतापन्न हो गई।

अक्कोधेन जिने कोधं,
असाधुं साधुना जिने।
जिने कदरियं दानेन,
सच्चेन अलिक वादिनं।

अक्रोध से क्रोध को जीते, असाधु को साधुता से जीते। कंजूस को दान से जीते, झूठ बोलने वाले को सत्य से जीते।

श्रद्धामयी उत्तरा की प्रेरणा से सिरिया को उपदेश श्रवण का मंगलमय अवसर प्राप्त हुआ और उसका जीवन सुधर गया। ध्यानमयी उपासिका उत्तरा की भी इच्छा पूर्ण हुई और उसने व्रत समाप्त कर अपने को धन्य माना।

जेतवन में भिक्षु संघ सहित निवास करते समय महाकारुणिक भगवान् तथागत ने उत्तरा को ध्यानी उपासिकाओं में अग्रस्थान देकर कृतार्थ किया।

———

सुप्रवासा

सिद्धार्थ-जननी ने जिस नगर में जन्म लिया और अपने शैशव के दिनों को व्यतीत किया था। उसी विख्यात कोलिय-नगर देवदह में में सुप्रवासा का भी जन्म हुआ था। उसी वातावरण में पालन-पोषण होने के कारण सुप्रवासा की भी शिक्षा माया देवी की भांति हुई और वह भी दया, दान, सेवा से प्रसन्न होती थी। वय प्राप्त होते ही एक शाक्य कुमार के साथ इसका विवाह हो गया। अपनी सेवा एवं विनय-शीलता से इन्होंने अपने पति-गृह में सबको मुग्ध कर लिया। इनके पति भी इनके सद्गुणों पर प्रसन्न थे। वे उसे धर्म एवं दान के लिये कभी नहीं रोकते थे।

हँसते-हँसाते हर्ष के दिन व्यतीत होने लगे। सुलक्षणा वधू सुप्रवासा ने गर्भ धारण किया। केतकी गर्भ से पीत बदन पर मातृत्व की गम्भीरता देखकर उसके सास-ससुर प्रसन्न हुए। उन सबने सोचा कि उनका आँगन किलकारियों से गूँज उठेगा। वंश का दीपक सा नव शिशु गृह को उल्लास रूपी प्रकाश से आलोकित करता रहेगा। यथा-समय सुप्रवासा ने एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया जो शीवली के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

भगवान् के उपदेशों से तब कपिल-वस्तु का कण-कण उल्लासित हो रहा था। धर्मशीला सुप्रवासा भी उन महाकारुणिक विश्व-देवता के दर्शनार्थ जा पहुँची। भगवान् भिक्षु-संघ एवं परिषद् को मंगलमय-उपदेशों से अभिनव शान्ति प्रदान कर रहे थे। सुप्रवासा भी वन्दना कर एक ओर बैठ गई और ध्यानपूर्वक उपदेश श्रवण करने लगी। भगवान् के प्रथम दर्शन एवं उपदेश-श्रवण से उसे स्रोतापत्ति फल की प्राप्ति हो गई।

त्रिरत्न के कल्याणकारी उपदेशों के पालन का प्रयत्न सुप्रवासा के जीवन का लक्ष्य बन गया। उसकी आकांक्षार्थ वह एक बार उन दिव्य देवता और पावन भिक्षु-संघ को निमंत्रित कर धन्य बन सके। उसने भगवान् से विनय किया। करुणामूर्ति तथागत ने उसका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। श्रद्धामयी सुप्रवासा हर्ष से पुलकित हो उठी और भोजन दान की समस्त वस्तुएँ स्वयं ही बड़े प्रेम एवं श्रद्धा से तैयार कराईं। सुन्दर आसनों पर भगवान् और भिक्षु-संघ को बिठा उसने श्रद्धापूर्वक भोजन दान दिया।

भोजन के पश्चात् शास्ता ने उपदेश देते समय उसे कहा—"सुप्रवासे! आर्य-श्राविका भोजनदान देती हुई ग्रहण करनेवालों को पाँच बात देती हैं, आयु, वर्ण (रूप), सुख, बल और प्रतिभा। इन्हें देकर वे इन्हीं पांचों का लौकिक तथा दिव्य फल प्राप्त करती हैं।" सुप्रवासा धन्य हो गई। उसने बड़ी भक्ति से बन्दना कर उन्हें विदा किया। उसका समस्त जीवन दान, धर्म में व्यतीत होने लगा। वह शीलों का पालन करती हुई साधना के पथ की ओर बढ़ने लगी।

भगवान् उसके निस्वार्थ दान से प्रसन्न हुए। जब वे जेतवन महा-विहार में निवास कर रहे थे तब एक दिन उपासिकाओं को पद देते समय उन्होंने सुप्रवासा को उत्तम दान देनेवाली गृहस्थ उपासिकाओं में श्रेष्ठ पद प्रदान किया। सुप्रवासा कृतार्थ हो गई। उसका पुनीत जीवन आज भी निस्वार्थ-दान की प्रेरणा प्रदान कर रहा है। यद्यपि आज वह इस संसार में नहीं है।

———

सुप्रिया

जो त्रिरत्न पर अगाध श्रद्धा रखती थी। श्रद्धा एवं सेवा के बल पर जिसने सुश्रूषा करने वाली उपासिकाओं में श्रेष्ठ पद प्राप्त किया था। वाराणसी की उस नारी-रत्न का नाम था—सुप्रिया।

पद्मोत्तर बुद्ध के समय में वह हंसावती नगरी के एक सम्पन्न घर में उत्पन्न हुई थी। वह शील-पालन एवं दान-धर्म के साथ जीवन व्यतीत करती थी। धर्म-वार्ता सुनने और उनके पालन करने से उसे प्रसन्नता का अनुभव होता था। एक दिन वह शास्ता पद्मोत्तर बुद्ध के धर्मोपदेश सुन रही थी। उपदेश के उपरान्त शास्ता ने एक सौम्यवती उपासिका की उत्कृष्ट सेवा की प्रशंसा की और उसे रोगी-सुश्रूषा करने-वाली उपासिकाओं में श्रेष्ठ-पद प्रदान किया। उस गम्भीर उपासिका का मस्तक श्रद्धा से नत हो गया। उसने भगवान् के श्री-चरणों पर झुक वन्दना की थी। अन्य सभी उपासिकाओं ने सेवा के महत्व को समझा। श्रद्धामयी सुप्रिया ने भी देखा, समझा और मनन किया। उसके अन्तर की कामना थी "यदि वह भी इसी प्रकार श्रेष्ठ-पद प्राप्त कर सकती तो उसका अहोभाग्य होता।" उसने उस महान्-पद की अभिलाषा ले भगवान् पद्मोत्तर बुद्ध की वन्दना की और साधना-पथ की ओर बढ़ गई।

एक लाख कल्पों तक आवागमन के चक्रों में उलझती-सुलझती सुप्रिया भगवान् गौतमबुद्ध के समय में वाराणसी में उत्पन्न हुई। बाल्यकाल से ही धर्म की ओर रुचि रखती हुई सुप्रिया गृहोचित शिक्षाओं में निपुण हो गई और उसका विवाह वाराणसी के ही एक सम्पन्न, कुलीन गृहपुत्र के साथ हो गया। पूर्व-जन्मों की सुकृतियों के

कारण सुप्रिया का मन धर्म-श्रवण की ओर अधिक लगता था। वह, न झूठ बोलती थी, न वचन टालती थी, न हिंसा-द्वेष ही करती थी। शुद्ध, सात्विक जीवन में रह जन-जन की सेवा ही उस उपासिका का ध्येय था।

जब भगवान् बुद्ध भिक्षु-संघ के साथ वाराणसी गये थे तब उनके मंगलमय उपदेशों को सुनकर, अपने जीवन को सफल करने के लिये अनेक नर-नारी उनकी शरण में पहुँचा करते थे। शीलवती सुप्रिया भी भगवान् के दर्शनार्थ गई और उनकी वन्दना कर उनके कल्याणकारी उपदेशों को सुनने लगी जिसमें वह स्रोतापत्ति-फल में प्रतिष्ठित हुई।

वह नित्य ही विहार में जाती और धर्म-श्रवण कर सन्तोष का अनुभव करती थी। दान और सेवा तो उसके जीवन के मुख्य कार्य थे। एक दिन वह भ्रमण करती हुई एक विहार से दूसरे की ओर गई। दूसरे विहार में उसने देखा कि एक भिक्षु रोगाक्रान्त हैं। दयामयी उपासिका ने उनकी वन्दना की और मृदु शब्दों में पूछा—"आर्य! यह उपासिका क्या सेवा का अवसर प्राप्त कर सकती है?

आज्ञा दें आर्य! क्या चाहिये?"

भिक्षु ने कहा—"उपासिके! रस चाहिये।"

सुप्रिया ने सहर्ष स्वीकार कर लिया और रस भेजने का वचन दे वह अपने निवास स्थान में वापस आ गई। दूसरे दिन सबेरे उसने कुछ मुद्रायें देकर अपनी दासी को भेजा कि वह कुछ मांस खरीद लाये। दासी, नगर की सभी दूकानों में पूछ आई किन्तु उसे कहीं भी मांस नहीं मिला क्योंकि उस दिन नगर के सर्भ हिंसा-गृह बन्द थे। उसने यह बात अपनी स्वामिनी सुप्रिया से कही। जिसे सुनकर सुप्रिया चिन्तित हो गई क्योंकि वह वचन दे चुकी थी और वह भी एक रुग्ण भिक्षु को। उसने निश्चय किया, वह रस अवश्य भेजेगी, चाहे जिस प्रकार हो। "रस न मिलने पर आर्य दुखी होंगे।" यह सोच वह अपने

कक्ष में गई और एक तेज कटार से अपनी सुकोमल जाँघ के मांस को उसने साहसपूर्वक काट लिया। तत्पश्चात् साधारण मुद्रा में ही दासी को बुलाकर मांस देते हुए कहा—"इसे भली प्रकार पका कर रस तैयार करो।" वह स्वयं तो विहार तक जाने में असमर्थ थी। रस बनने पर उसने दासी से कहा—"सेविके! यह रस विहार में ले जाकर आर्य को दे दो, वे पूछें तो कह देना, रोगिणी है।"

दासी को अकेली कुछ देकर जाते देख शास्ता ने सुप्रिया की अनुपम सेवा को विदित कर लिया। महाकारुणिक की करुणा उस सेवा एवं श्रद्धामयी पर प्लावित हुई। शास्ता करुणापूर्वक स्वयं ही भिक्षु-संघ के साथ भिक्षाटन करते सुप्रिया के द्वार पर पधारे। सुप्रिया ने सुना, वह उल्लास एवं श्रद्धा से गद्गद् हो गई। उसने अपने पति से कहा—"आर्य-पुत्र! शास्ता हमारे यहाँ पधार रहे हैं उन्हें सादर बैठाइये। मैं उनके पास नहीं जा सकूँगी।"

उसके पति ने प्रणाम कर भगवान् एवं भिक्षु-संघ को उचित श्रेष्ठ आसनों पर बैठाया। शास्ता ने शान्त-स्वर में कहा—"सुप्रिया कहाँ हैं?"

उसके पति का विनम्र स्वर था—"देव! वह रोगिणी हैं।" शास्ता का वही ममतामय आदेश था—"गृहपति! उसे बुलाओ।" सुप्रिया ने सुना, महाकारुणिक स्वयं उसकी कुशलता पूछ रहे हैं। उसे बुला रहे हैं। वह श्रद्धा-विभोर हो गई, उसने समझ लिया सर्व-लोक-कल्याणकारी अकारण नहीं बुला सकते। वह उठी। उसने देखा कि उसका घाव भर चुका था। जाँघ पहले की अपेक्षा अधिक सुन्दर हो गई थी। बुद्धानुभाव से वह पूर्ण ठीक हो गई थी। उसकी प्रसन्नता की सीमा न रही। वह हर्षित मन से भगवान् एवं संघ को पंचाङ्ग प्रणाम कर श्री-चरणों के समीप नत हो गई। वन्दना के पश्चात् वह एक ओर शान्त मन से बैठी। भगवान् ने पूछा—"उपासिका को कौन सा रोग है?"

भाव-विभोर सुप्रिया ने ममतामयी वाणी सुनकर सब-कुछ कह दिया। उसके द्वारा समर्पित भोजन-दान स्वीकार कर उसे आशीर्वाद दे शास्ता भिक्षु-संघ सहित विहार में गये। वहाँ संघ के सम्मुख उन्होंने उस भिक्षु को उसके कष्ट-प्रद आदेश के विषय में समझाया और भविष्य में ऐसा निन्दनीय कार्य न करने का आदेश दिया।

कालान्तर में भगवान् ने जेतवन में धर्मोपदेश देने के पश्चात् भिक्षु-संघ के सम्मुख सुप्रिया की सेवा की प्रशंसा की और उसे रोगी-सुश्रूषा करने वाली उपासिकाओं में श्रेष्ठ-पद प्रदान किया। सुप्रिया की जन्म-जन्मान्तर की लालसा पूर्ण हुई।

आज उपासिका सुप्रिया नहीं हैं किन्तु उसकी सेवा-भावना एवं सद्कार्य पालि-साहित्य में सर्वप्रिय हैं।

कात्यायनी

अवन्ति जन -पद के कुररघर नामक नगर में एक सम्पन्न गृह में कात्यायनी का जन्म हुआ। बचपन से ही कात्यायनी बड़ी हँसमुख थी साथ ही उदार भी। कोई याचक द्वार पर आता उसे वह अन्न दिये बिना न लौटाती थी। दीन-दुखियों की सेवा कर उसे प्रसन्नता का अनुभव होता था। युवती होने पर अपनी उदारता के कारण वह कुररघर में विख्यात हो गई थी।

राज गृह की काली नाम की एक कुलीन युवती का विवाह कुररघर में हुआ। कात्यायनी ने अपने जैसी स्वभाव वाली युवती काली से शीघ्र मैत्री कर लीं। जब दोनों बैठती तो काली भगवान् तथागत का गुण-गान एवं पावन उपदेशों की वार्ता करती थी और मुग्धा सी कात्यायनी उन मंगलमय उपदेशों के पालन करने का प्रयत्न करती थी। कालान्तर में काली के सुपुत्र कुटिकण्ण सोण स्थविर जेतवन विहार से भगवान् के दर्शन कर वापस आये। उनकी स्नेहमयी जननी काली और माता तुल्य कात्यायनी ने कुररघर में उनका स्वागत किया।

माता के आग्रह से वे रात्रि को सुन्दर मंडप में अगरु धूम्र एवं पुष्पों से सुरभित वातावरण में मंच पर जा बिराजे। नगर के असंख्य नर-नारियों ने अपने भाग्य को सराहा और उनसे भगवान् के पावन उपदेशों को सुनने के लिये वहाँ एकत्रित हो गये थे। त्रिरत्न वन्दना के पश्चात् उपदेश का अयोजन था। काली-उपासिका धूप-दीप आदि पूजा की सामग्री ठीक करने लगीं।

रात्रि की नीरवता में चोरों ने सोचा, नागरिक-नागरिकायें तो हैं नहीं क्यों न आज चोरी की जाय। अतः कई चोरों ने एक साथ नगर के

एक सिरे से सेंध लगाना प्रारम्भ किया। उन्हें कार्य में लगा उनका सरदार यह जानने के लिये गया कि जन-समूह सुदूर मंडप में क्यों एकत्रित हैं ?

वह जन-समूह में जा प्रधान उपासिकाओं काली और कात्यायनी के पीछे खड़ा हुआ। उस ओर ध्यान न दे उपासिका कात्यायनी ने अपनी सेविका से कहा—"सेविका ! घर जाकर घृत-दीप आदि ले आओ मैं भी सखी के साथ अर्चना कर पुण्यफल की भागिनी बनूंगी। काली ने अपनी सखी से तेल-दीप ले लेने के लिए कहा किन्तु श्रद्धाशीला कात्यायनी ने दासी को भेज ही दिया।

दासी ने घर में कुछ शब्द सुना। वह छेद से झाँक कर देखी तो प्रासाद के पार्श्व-भाग में सेंध लगाकर चोरों को घुसे हुये पाया। वे धन, आभरण आदि को ले जाने के लिये समेट रहे थे। दासी भय से काँप गई और उसी पैर स्वामिनी के पास जा सब हाल कहने लगी। चोरों के सरदार ने सोचा यदि कात्यायनी जायेगी तो वह उसे काटकर दो टुकड़े कर देगा।

धर्मोपदेश प्रारम्भ हो चुका था। कात्यायनी श्रद्धा-पूर्वक उपदेश सुन रही थी। उसने दासी से कहा—"जाने दे, सेविके ! उपदेश श्रवण करने में बाधा न दे। चोर भौतिक धन ले जारहे हैं, ले जाने दे। आज मैं अमूल्य उपदेश रूपी धन प्राप्त कर रही हूँ। उसमें विघ्न मत बन।" श्रद्धामयी कात्यायनी का गम्भीर स्वर सुनकर सरदार का कठोर हृदय द्रवित हो उठा। उसका मन उसे धिक्कारने लगा कि क्या वह एक नारी से गया-गुजरा है उस धन को तुच्छ समझ कर प्रसन्नतापूर्वक त्याग दी, उसे वह ले जायेगा, वह भी चोरी से। कितना पाप है ? ऐसी पुण्य-शीला के यहाँ चोरी करने पर उसे धरती में धँस जाना होगा।

उसके विचार बदल गए और वह अपने साथी चोरों से सब वृत्तांत कह कर धन को वहीं छोड़ मंडली सहित धर्मोपदेश सुनने लगा।

रजनी बीत चुकी थी। उषा काल की मंगल-बेला मानो सुधावर्षी उपदेशों को सुन हर्ष पूर्वक मंगल-कुमकुम बिखेर रही थी। समस्त नर-नारियों के हृदय में अभिनव हर्ष की लहर सी दौड़ गई थी।

कात्यायनी भी अपने घर आई। कुछ समय ही बीता होगा कि चोरों का सरदार कात्यायनी के चरणों पर गिर पड़ा और पश्चात्ताप के साथ कहा—"आर्ये ! क्षमा करें।" कात्यायनी ने उन्हें न पहचानने के कारण कहा—"भाई ! आप लोगों ने मेरा क्या अपराध किया है ? जो मुझसे क्षमा माँग रहे हैं ?"

चोरों ने रात्रि की सभी घटना सुना दी। उनके विचार परिवर्तन की बात सुन कात्यायनी बड़ी प्रसन्न हुई और बोली—"मैं सभी को क्षमा करती हूं।"

इसे सुन चोरों ने कहा—"हमें शान्ति कहाँ मिलेगी ? देवि ! हम निम्न कर्म को त्याग कर साधनामय जीवन व्यतीत करना चाहते हैं। तभी शान्ति मिलेगी। आप के कारण हमें नया पथ मिला, नई ज्योति मिली, आप ही हमें प्रव्रजित करवा दीजिए देवि !"

उनकी कातर वाणी सुन दयामयी उपासिका कात्यायनी उन्हें स्थविर कुटिकण्ण सोण के समीप ले गई। वे सभी वहाँ प्रव्रज्या ग्रहण कर भिक्षु हो गये। सभी ने कठिन साधना द्वारा ज्ञान प्राप्त कर अर्हत् पद प्राप्त किया।

अपने त्याग और श्रद्धा से बहुत से चोरों के जीवन को परिवर्तित करने वाली कात्यायनी का त्यागा श्रद्धा एवं सदा उपदेश श्रवण, पालन से महाकारुणिक, भगवान् तथागत उस पर बड़े प्रसन्न हुए और जेतवन महा विहार में निवास करते हुए उन्होंने उपासिकाओं को स्थान देते समय कात्यायनी को अतीव प्रसन्न रहने वाली उपासिकाओं में अग्र-स्थान देकर कृतार्थ किया।

———

नकुल-माता

उसका पति, उसके जीवन का सौभाग्य, जीवन-मरण के झोंकों में झूल रहा था। चिन्ताओं की आँधी उसके पति को मृत्यु की ओर झपेड़े दे रही थी। उसके छोटे-छोटे अबोध बालक मृत्यु की उस छाया में बैठे विलाप कर रहे थे। अति रुग्ण पति की वह पत्नी थी और अबोध बच्चों की माता। सब कुछ देखकर उसका नारी-हृदय रो उठा था किन्तु उस दुख में उसने भगवान् के उपदेशों का स्मरण किया। उसकी त्रिरत्न पर अचल भक्ति थी। उसका नाम था "नकुल-माता"।

नकुल-माता अपने पति की शैया के समीप बैठ गई और अपने कोमल हाथों से उसके प्रशस्त मस्तक पर स्पर्श करने लगी। उसके चिन्तामग्न पति ने आँखें खोलीं और अपने क्षीण हाथों में उसका हाथ ले लिया। उसका कातर-स्वर था—नकुम-माता! मैं तुम्हें कोई सुख न दे सका। ये छोटे-छोटे बालक अभो अबोध हैं। इनका पालन कैसे होगा? इतना धन नहीं कि मैं निश्चिन्त हो सकूँ।"

उसने त्रिरत्न के अमृतमय उपदेशों का स्मरण कर गम्भीर वाणी में उत्तर दिया—"मेरे जीवन सर्वस्व! इस सांसारिक बातों का विचार कर आप दुखी न हों। मैं चरखे से सूत कातूँगी, ऊन तैयार करूँगी और उन्हें बेंचकर अपना तथा इन बच्चों का निर्वाह करूँगी। इन्हें कभी भूखों न रहने दूँगी। आप चिन्ता न कीजिये।"

उसके पति को कुछ सन्तोष हुआ पर उसने सोचा किसी कार्य के लिये कहना सरल है किन्तु उसका पालन करना उतना ही कठिन भी है। अतः उसने कहा—"यदि पुनः विवाह की आवश्यकता समझना तो बच्चों का भी ध्यान रखना ये तुम्हारे ही हैं।"

नारी का नारीत्व जाग उठा। नकुल-माता ने उसी साहस के साथ कहा—"स्वामी! सोलह वर्षों से गृहस्थी में रहते हुए भी मैंने ब्रह्मचर्य का ध्यान रक्खा और उपोसथ व्रत का पालन किया है। फिर आपके न रहने पर क्या मैं पुनः विवाह करूँगी? यह असम्भव है। कुलीन नारी का जीवन काठ की हाँडी सा है। काठ की हाँडी केवल एक बार आग पर चढ़ती है। कुलीन नारी भी केवल एक बार विवाह करती है।"

उसके पति ने सुना, कुछ समझा फिर भी कहा—"शुभे! मेरे इस संसार में न रहने पर भी तुम धर्मोपदेश सुनने में मन लगाना। शीलों का पालन करती रहना और अपने इस पति के वियोग में रो-रोकर विह्वल न होना अन्यथा ये बालक बिना मारे मर जायेंगे।"

शीलवती उपासिका नकुल-माता ने अपने पति की इस शंका का समाधान भी शान्तिपूर्वक किया। वह बोली—"मेरे नाथ! मैं महा-कारुणिक भगवान् तथागत और पावन भिक्षु-संघ का उपदेश श्रवण करने के लिये जीवन भर जाती रहूँगी। मैं शीलवती उपासिकाओं में हूँ। इसलिये समस्त शीलों का सदैव पालन करूँगी। मैं समाधिव्रती उपासिका भी हूँ। यह आप जानते ही हैं कि समाधि के चिर आल्हाद में जन्म-मरण का हर्ष-शोक नहीं। इसलिये आप अपने मन की इस चिन्ता को पूर्णतः दूर कर दीजिये कि यह सेविका (पत्नी) रो-रोकर बच्चों को कष्ट पहुँचायेगी। आप शंका और क्षण-भंगुर सांसारिकता से मन को मुक्त रखें। मेरी आपसे यही प्रार्थना है।"

गृहपति ने अपनी विदुषी-पत्नी नकुल-माता की सच्ची सेवाओं का स्मरण किया। उसे उसका सच्चा प्रेम समझ में आया, उसकी चिन्तायें दूर हो गईं।

रोग तो गृहपति को साधारण सा ही था किन्तु असहाया पत्नी, अबोध बालकों, कुल की आन और निर्धनता की चिन्ताओं ने उसे जर्जरित कर मरण की ओर ढकेलना प्रारम्भ कर दिया था। अपनी पत्नी

की गम्भीर बातों से उसे बड़ी शान्ति मिली। उसके गुणों का साक्षात्कार कर, वह ऐसी सुलक्षण पत्नी के पति होने के कारण अपने को भाग्यवान समझा।

श्रद्धामयी उपासिका नकुल-माता की सच्ची सेवाओं में और चिन्ताओं के दूर हो जाने के कारण नकुल-पिता धीरे-धीरे रोग-मुक्त हो गया। इसी प्रसन्नता में वह एक दिन भगवान् तथागत के दर्शन के हेतु गया। उन दिनों भगवान् (बुद्ध-देव) भर्ग देश के शिशुमार गिरि में निवास कर रहे थे। भगवान् की वन्दना कर वह एक ओर बैठ गया। करुणानिधि भगवान् ने उसे आशीर्वाद देते हुए कहा—"गृहपति ! तू भाग्यवान है। तुझे नकुल-माता सी पतिपरायणा, सुगृहणी, शील, एवं समाधिवती उपासिका पत्नी रूप में प्राप्त हैं। वह श्रेष्ठ उपासिकाओं में से एक है। ऐसी गृहणी को दुःख न हो इसका सदा ध्यान रखना।"

गृहपति को अपनी पत्नी पर गर्व हुआ। सचमुच वह उपासिका नकुल-माता धन्य थी। स्वयं भगवान् जिसकी प्रशंसा कर जिसे कृतार्थ किये।

काली उपासिका

जिसने अपने पुत्र को जन्म से ही त्रिरत्न के मंगलमय उपदेशों की ओर प्रेरित किया और उसे एक स्थविर के रूप में देखकर उसका हृदय हर्ष-विभोर हो गया। उस भाग्यशालिनी माता का नाम था काली उपासिका।

काली का जन्म राजगृह के एक धनीगृहपति के यहाँ हुआ था बचपन से काली बड़ी हँसमुख थी। कठिन से कठिन कार्य का भार भी प्रसन्नता-पूर्वक वहन कर लेती थी। शिक्षा के साथ धीरे धीरे गृह-कार्यों में कुशलता प्राप्त कर ली और युवती होते ही अवन्ति जनपद के एक सम्पन्न घराने के युवक के साथ उसका विवाह हो गया। परिणय के पश्चात् काली अपने पति के यहाँ अवन्ति जनपद के कुररघर नामक नगर में निवास करने लगी। वहाँ एक श्रद्धा-शील युवती से उसकी भेंट हुई जो गुण, स्वभाव एवं वय में उसी के समान थी। वह उस युवती कात्यायनी को त्रिरत्न के विषय में बताया करती थी और कात्यायनी उसे श्रद्धा के साथ सुनकर संतोष का अनुभव करती थी।

सुन्दर शीलमय जीवन बिताती और गृह-जनों को सेवा से प्रसन्न रखती हुई कुछ काल पश्चात् वह गर्भवती हुई। अपनी कुल की रीति के अनुसार प्रथम शिशु प्रसव करने के लिये वह अपने माता-पिता के घर राजगृह चली गई।

एक रात्रि को अपने शयन-कक्ष में खड़ी वातायन से जगमगाती राज गृह की शोभा देख रही थी। रात्रि का प्रथम प्रहर बीत चुका था और अंधकार के साथ नीरवता भी बढ़ गई थी। जगमगाते दीपकों के आलोक वातायन से झाँक रहे थे। उसी नीरवता में खोई हुई सी उसने सुना

सातागिरि एवं हेमवत के द्वारा किये जाने वाले त्रिरत्न के गुण-गान को। वह मुग्धा सी खड़ी रही। उसे गुण-श्रवण से अति प्रसन्नता का अनुभव हुआ। यद्यपि वह भगवान् महाकारुणिक के दर्शन का अवसर प्राप्त नहीं कर सकी थी फिर भी वह श्रद्धा-विभोर उपासिका गुण-गान सुनकर ही स्रोतापन्न हो गई।

गर्भ के शिशु पर भी जननी के उत्तम विचारों का प्रभाव पड़ा। सुन्दरपुत्र प्रसव कर काली अवन्ति जनपद वापस आ गई। किन्तु उसका समय गृहकार्यों के अतिरिक्त शील एवं उपदेश-पालन में अधिक व्यतीत होता था। बचपन से बालक पर माता का उत्तम प्रभाव पड़ा और बड़े होने पर (बालक ने) प्रव्रज्या ग्रहण कर साधनामय जीवन को ही श्रेयस्कर माना।

कालान्तर में वही पुत्री धर्म-ज्ञान प्राप्त कर कुटिकण्ण सोण स्थविर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जेतवन विहार में शास्ता के दर्शन कर जब स्थविर सोण अपनी जननी के नगर कुररघर आये तब उनकी जननी काली माता-तुल्य (काली की सखी) कात्यायनी ने उनका हृदय से स्वागत किया तथा वे धर्म सुनने की आकांक्षा प्रगट की।

नगर के समीप मंडप में सुन्दर मंच पर नागरिक-नागरिकायें उपदेश सुनने के हेतु एकत्रित हुए। उपासिका काली और कात्यायनी भी सहर्ष त्रिरत्न-पूजा का आयोजन करने लगीं। नगर की ऐसी नीरवता का लाभ उठाने के लिये चोरों की मंडली ने प्रासादों में सेंध लगा चोरी करना चाहा। चोर कात्यायनी के घर में सेंध लगाने लगे और उनका सरदार उपदेश-स्थल पर जा काली और कात्यायनी के पीछे खड़ा हो गया। पूजा के समय उपासिका कात्यायनी ने सेविका से कहा कि वह घर से घृत,दीप आदि ले आवे। सेविका ने जाकर देखा कि चोर सेंध लगाकर भंडार-गृह में घुस गये हैं और बहुमूल्य वस्तुयें ले जाने की तैयारी कर रहे हैं वह भय से काँपती खड़ी रह गई कुछ सुधि सम्हालने पर वह अपनी स्वामिनी

के समीप जा चोरों के घर में घुसने का हाल कही। तभी चोरों के सरदार ने सोचा, यदि इसकी स्वामिनी घर जायेगी तो उसके दो टुकड़े कर दूँगा।

कात्यायनी सोण स्थविर से भगवान् के पावन धर्मोपदेश सुनने में ध्यानमग्न हो रही थी, उसने कहा—"सेविके! भौतिक धन को चोर ले जाते हैं तो ले जाने दो। मैं तो दिव्य धन की प्राप्ति कर रही हूँ। इसमें विघ्न न बनो। सरदार ने सुना पावन उपदेश और देखा कात्यायनी की धर्म-श्रद्धा, धन के प्रति उपेक्षा, उसका विचार परिवर्तित हो गया। वह समझ गया चोरी करना महान पाप है। उसने सोचा ऐसी धर्मानुरागिनी के घर चोरी करना नितान्त लज्जा की बात है। वह सब घटना अपने साथी चोरों को बता, उन्हें चोरी से विरत किया और अपने साथ मंडप में ले आया। वहीं उन सब ने भी उपदेश सुना जिससे उन्हें अपने कार्यों पर बहुत पछतावा हुआ। वे प्रात: काल उपदेश समाप्त होने पर कात्यायनी के घर जा क्षमा याचना कर विनय किये कि वह उन्हें प्रव्रज्या दिलवा दे। उपासिका कात्यायनी के अनुरोध पर सब तरह से जाँच कर स्थविर काली-पुत्र कुटिकण्ण सोण ने उन्हें प्रव्रजित कर लिया। वे समस्त चोर अपना निंदनीय कार्य त्याग दिये और त्रिरत्न की शरण में साधना कर अर्हत्व प्राप्त किये।

काली उपासिका का हृदय हर्षित हो गया उसके पुत्र ने कई चोरों की चोरी से विरत कर साधनामय जीवन बीताने के लिये प्रेरित किया जिससे उन सभी का जीवन सुधर गया।

प्रसन्नता पूर्वक धर्म सुनती हुई दया-दान मय समय व्यतीत करती काली उपासिका की श्रद्धा से प्रसन्न हो भगवान् तथागत ने जेतवन विहार में निवास करते समय काली उपासिका की प्रशंसा की और उसे अनुश्रुति द्वारा प्रसन्न उपासिकाओं में श्रेष्ठ पद प्रदान कर कृतार्थ किया।

मल्लिका

वीरता एवं सहन-शीलता की तो वह मानो सजीव प्रतिमा थी। भगवान् के उपदेश उसके जीवन के महामन्त्र थे। उत्तराखण्ड में कल-कल-निनादिनी हिरण्यवती नदी के पश्चिमी पुलिन पर मल्लों का राज्य था, इनकी राजधानी कुशीनगर थी। (सम्भवतः इन्हीं मल्लों के नाम पर आज भी मध्यभारत का अधिकांश भाग मालव कहलाता है।) इन्हीं वीर-मल्लों के एक राज-परिवार में इनका जन्म हुआ था और नाम था "मल्लिका"। मल्लिका के सुरभित पुष्प की भाँति मल्लिका के गुणों का सौरभ तत्कालीन जनपदों में सुवासित हो उठा था। बचपन में सुन्दर शाल-वनों के बीच क्रीड़ा करती। मल्लिका ने अस्त्र-शस्त्र चलाने, रथ-संचालन, युद्ध-कौशल आदि में प्रवीणता प्राप्त कर ली थी। रूप और गुणों का सुन्दर सामन्जस्य रखने वाली राज-नन्दिनी, वीरता, दया और ममता की मानो सच्ची साधिका बन गई थी। बचपन के साथ सुन्दरी मल्लिका की चंचलता ने भी विदा लेना प्रारम्भ किया और वह एक गम्भीर तरुणी बन गई।

एक दिन मल्लिका ने सुना कुशीनगर के एक राजपुत्र बन्धुल-मल्ल तक्षशिला से विद्याध्ययन कर कुशीनगर आये हैं और राजकीय परम्परा के अनुसार अपनी विद्या एवं शौर्य का प्रदर्शन करेंगे। इनके साथ ही दो राजपुत्र और भी थे जो विद्या अध्ययन कर वापस अपने-अपने राज्य में चले गये। उनमें से एक थे श्रावस्ती के राजकुमार प्रसेनजित और दूसरे थे लिच्छिवि-वन्श के महाली कुमार। ये तीनों एक ही दिन तक्ष-शिला पहुँचे थे और अति-मैत्रीपूर्वक शिक्षा प्राप्तकर, साथ ही अपने-अपने जनपदों के लिये प्रस्थानित हुए थे। प्रसेनजित ने अपनी विद्या से

अपने पिता को सन्तुष्ट किया। इसके उपलक्ष्य में उनके पिता श्रावस्ती-नरेश ने अपने योग्य-पुत्र का राज्याभिषेक किया। महालीकुमार ने अपना युद्ध-कौशल दिखाया पर अति-वीरता के कारण उसकी आँख जाती रही। इसीलिये लिच्छिवियों ने उसे आचार्य मान कर एक लाख आय का एक नगर-द्वार दे दिया और वह पाँच सौ लिच्छवि-कुमारों को युद्ध-विद्या सिखाने लगा।

राजकुमार बन्धुल भी उसी तक्षशिला से शिक्षा प्राप्तकर लौटे थे। कुशीनगर के संस्थागार (सभा-भवन) के सन्मुख अनेक मल्ल राजा, उपराजा और राजकुमार, राज-महिलायें, महामात्य एवं अष्ट-कुलिक आदि मंच पर आसीन थे। क्रीड़ा-भूमि पर साठ-साठ बाँसों के साठ कलाप खड़े किये गये। नगाड़ों की तीव्र ध्वनि हुई और वीर बन्धुल मल्ल अस्सी हाथ उछलकर उन कलापों को काट दिया। दर्शकों ने देखा तलवार थी या बिजली की एक चमक। वे समझ न सके। अंतिम बाँस के कटने के साथ एक कठोर शब्द हुआ बन्धुल ने चौंक कर देखा, वह शब्द लौह शलाका का था जो तलवार से कटने के कारण हुआ। वीर बन्धुल उदास हो गये। उन्होंने एक विरक्ति के साथ कहा—"मेरे इतने प्रियजनों ने मेरे साथ छल किया जो बासों के भीतर लौह-शलाकाओं को रख दिये और मुझे बताये तक नहीं। अन्यथा मैं इन्हें निशब्द ही काट देता।" सभी ने उनके कौशल पर जयघोष किया, अपना, हर्ष प्रगट किया किन्तु चमकती विद्युत लहरों की भाँति तलवार चलाने वाले वीर बन्धुल के शौर्य, वीरता को संस्थागार के समीप बने ऊँचे प्रासाद के अलिंद से देखती तरुणी मल्लिका ने अपना सर्वस्व समर्पण कर दिया।

वीर बन्धुल ने अपने माता-पिता से मल्लों के इस छल की बात सुनाते हुए कहा—"मल्लों को मारकर राज्य करूँगा।" किन्तु माता-पिता के समझाने पर उसे शान्त होना पड़ा। मंगल-वाद्यों के बीच स्वयंवरा प्रणयिनी राजकुमारी मल्लिका की वरमाला स्वीकार कर बन्धुल

ने अपने माता-पिता के साथ श्रावस्ती में अपने मित्र के समीप रहने की इच्छा प्रगट की। सबसे विदा ले वीर बन्धुल अपने माता-पिता और अपनी प्रिया पत्नी (मल्लिका) के साथ श्रावस्ती के लिये प्रस्थान किये। पुत्री की विदा से उदास मल्लिका के माता-पिता ने पुत्री का सिर चूम लिया और आँसुओं को रोकते हुए रुँधे स्वर में आशीर्वाद दिया। तत्पश्चात् असंख्य रत्नाभरण एवं सात बहुमूल्य रत्न-जटित (एक) सुन्दर महालता-प्रसाधन दे उसे विदा किया।

राजा प्रसेनजित ने अपने सहपाठी वीर बन्धुल का स्वागत किया और उन्हें अपने सेना-नायक का श्रेष्ठ-पद प्रदान किया। वीरता एवं युद्ध-कौशल में प्रवीण पति की छाया बनी प्रिया मल्लिका के दिन सुख से कटने लगे। प्रणयपूर्ण सुखमय जीवन में धीरे-धीरे विषाद की छाया आने लगी। बन्धुल मल्ल का मन अपने अंक में एक शिशु की मुस्कान देखने के लिये लालायित हो उठा। मल्लिका को कोई सन्तान न होने के कारण वीर बन्धुल उसे उसके पिता के घर कुशीनगर जाने की आज्ञा दिये।

भगवान् के उपदेशों पर श्रद्धा रखनेवाली मल्लिका शान्तिपूर्वक पति की आज्ञा का पालन कर कुशीनगर की ओर चल पड़ीं। पथ में उन्होंने सोचा कि न जाने कब भगवान् के दर्शन हों अतः जेतवन महा-विहार में उनका दर्शन कर कृतार्थ होती चलूँ। महा-विहार में जा मल्ल-पुत्री वीर-वधू मल्लिका ने शास्ता की वन्दना की। शास्ता ने पूछा—"कहाँ जा रही हो ? मल्लिके !"

मल्लिका का शान्त-स्वर था—"देव ! कुशीनगर जा रही हूँ। मेरे स्वामी (बन्धुल) ने बन्ध्या जानकर मुझे पिता के घर जाने का आदेश दिया है।"

भगवान् महाकारुणिक की करुणामयी वाणी थी—"मल्लिके ! यदि ऐसा है तो तुम बन्धुल के समीप वापस चली जाओ।" भगवान्

तथागत का आदेश था। हर्षित मल्लिका अपने प्रणय के देवता के चरणों में जा सब कुछ कह दी।

दीर्घ दर्शी शास्ता का पावन आशीष समझ बीर बंधुल ने मल्लिका को पुनः प्रेम-पूर्वक रख लिया। कुछ समय पश्चात् मल्लिका ने गर्भ धारण किया। बीर पुत्र और बीर पत्नी (मल्लिका) के हृदय में एक विचित्र दौहृद (गर्भिणी की इच्छा) हुआ उन्होंने वह अपने पति से कहा। अपनी प्रिय पत्नी की प्रत्येक इच्छाओं की पूर्ण करने वाले बीर बंधुल ने प्रसन्नता-पूर्वक कहा—"यह कौन सी बड़ी बात है, मल्लिके! आज ही मैं तुम्हारी इच्छा पूर्ण करूँगा। वैशाली-गण-राज्य कुल के राज्याभिषेक कार्य में आने वाली पुष्करिणी के जल में तुम स्नान करोगी और वहीं उस शीतल को सुख-पूर्वक पी सकोगी।"

वीर बंधुल सहस्त्रों मनुष्यों के बल से झुकने वाले धनुष को ले मल्लिका सहित रथ पर आरूढ़ हुये। पुष्करिणी की ओर जाते हुए उनके रथ की पहिये की रगड़ लच्छिवि महाली के द्वार पर लगी वह पहचान गया और सोचा कि लिच्छिवियों पर अवश्य विपत्ति आयेगी। पुष्करिणी पर लोहे का जाल बिछा था और किनारों पर कड़ा पहरा था। बीर बंधुल ने पहरेदारों को पीट कर भगा दिया और जाल को तोड़कर अपनी प्रिया मल्लिका सहित स्नान कर जल पी रथ के पास आये और श्रावस्ती की ओर चल पड़े। प्रहरियों सब समाचार सुन लच्छिवि-नरेश बहुत क्रुद्ध हुए और पाँच सौ रथारोहियों को आदेश दिये कि वे वीर बंधुल को पकड़ लावें। महाली-कुमार ने उन्हें पीछा न करने के लिये बहुत समझाया पर वे न माने। पति के साथ रथ पर जाती मल्लिका ने नील ध्वज वाले लच्छिवि रथों को देखा और पति को सूचित किया। वीर बंधुल ने निर्भयता पूर्वक कहा—"कोई भय नहीं, जब सभी रथ एक पंक्ति में हो जायँ तब बताना"। कुछ समय पश्चात् सभी एक के पीछे दूसरे एक पंक्ति में हो गये और मल्लिका अपने पति से कहीं। उसके पति ने घोड़ों की

बाग मल्लिका के हाथों में दे दी। सारथी का स्थान ले वीर तरुणी मल्लिका ने अश्वों को सम्हाला और उसके हृदयेश्वर ने एक तीर समस्त लिच्छिवियों को लक्ष्य कर चलाया जो उन सबकी पगड़ी को बेधता हुआ पृथ्वी में घुस गया। वे सब घायल होकर भाग गये।

पूरे समय पश्चात् वीरांगना मल्लिका ने सोलह बार जोड़े पुत्र प्रसव किया। सभी पुत्र युवक हो अपने पिता के भांति रण-कौशल में निष्णात हुये। वंधुल मल्ल की न्याय प्रियता देख राजा ने उन्हें न्यायाधिकारी का पद भी प्रदान किया।

सीमा-क्षेत्र का विद्रोह दमन करने के लिए एक बार राजा ने बंधुल मल्ल को उनके पुत्रों सहित भेजा। क्षुब्ध सौभाग्य धर्मशीला मल्लिका ने पाँच सौ भिक्षुओं सहित अग्रश्रावकों को एक दिन निमंत्रित किया था। उसी दिन उनके धर्म की मानो परीक्षा थी। मल्लिका, वधुओं सहित सबको श्रद्धा-पूर्वक भोजन परोस रहीं थी। तभी दासी के हाथ से एक मटका गिर कर फूट गया। घी बिखर गया। अग्रश्रावकों ने कहा—"फूटने वाली वस्तु फूटती है ही। गृहस्वामिनी इसके लिये चिन्ता न करें।" गृहस्वामिनी मल्लिका ने अग्रश्रावकों के चरणों के समीप वह पत्र रख दिया जिससे उन पर अचानक बज्रपात हो चुका था। वह पत्र उन्हें उसी दिन प्राप्त हुआ था। उन्होंने कहा—"भन्ते! मैं मटके के लिए क्या चिन्ता करूँगी। जब रस पत्र के लिए नहीं की।" अग्रश्रावक सारिपुत्र ने पढ़ा उसमें वीर वंधुल्ल एवं मल्लिका के समस्त पुत्रों के बध किये जाने का संदेश था। उन्हों ने देखा उसके गम्भीर मुख को। सभी चौक पड़े थे क्योंकि सर्वस्व लुटने पर भी वीरांगना कर्तव्यशीला शान्त थी। भोजनोपरान्त वे उपदेश देकर चले गये।

कुछ ईर्षालुओं ने राजा प्रसेनजित के कान भर दिए थे। राजा उनके कहने में आकर वीर वंधुल को पुत्रों सहित विद्रोह दबाने के लिए भेज

दिया और विद्रोह शान्त कर लौटते समय उन सबको मरवा डाला। जब उनके निर्दोष होने का पता लगा तो वे मल्लिका के समीप गये। उन्होंने अपने क्रूर कार्य के लिए मल्लिका और पुत्र बधुओं से क्षमा माँगी। उपेक्षा और मैत्री भावनामयी मल्लिका ने कहा—"पूर्व जन्मों का फल है। नरेश! आप जायें और हमारी ओर से निश्चिन्त रहें।" फिर वे विचार कीं, कहीं दुखी पुत्र-बधुएँ राजा का अकल्याण ने सोचें इसलिये उन्होंने उन्हें समझा बुझा कर उनके पितृ-गृहों में भेज दिया। वे स्वयं कुशीनगर चली गईं, वहाँ भगवान् की शरण में जीवन बिताने लगीं।

जब भगवान् तथागत का परिनिर्वाण हो गया और सात दिन उनका मृत शरीर कुशीनगर के राजपदों से सन्मान पूर्वक ले जाया जा रहा था तब श्रद्धामयी मल्लिका ने अपने नौकोटि के सप्त मणियों जटित बहु-मूल्य "महालता[1] प्रसाधन" को सुगन्धित जल से धोकर भगवान् के दिव्य देह पर आदर पूर्वक चढ़ा दिया। मणियों की कांति से पावन शरीर की शोभा अवर्णनीय हो गई। तब श्रद्धा-नत मल्लिका ने अस्फुट स्वर में प्रार्थना की—"विश्व-देवता! महाकारुणिक तथागत!! मैं भी जीवन-मुक्त हो जाऊँ। मुझे इन आभूषणों की आवश्यकता न पड़े मेरी देह बिना प्रसाधन के ही प्रसाधनयुक्त सी प्रतीत हो।"

वीर नारी श्रद्धामयी मल्ल-वंशीया मल्लिका की कामना पूर्ण हुई। शेष शान्तिमय जीवन व्यतीत कर वे देवलोक में स्थान प्राप्त कीं। मल्लिका पुष्प सी मल्लिका देवी तो विश्व में नहीं है किन्तु उनका श्रद्धा रूपी सौरभ आज भी चिर नवीन सा है।

———

१ मयूर की भांति ध्वनि करने वाला तथा पंख की भांति हेम पंख पर मणि जटित बहुमूल्य आभूषण।

संघमित्रा

कलिंग पर विजय तो प्राप्त हुई किन्तु भारत-सम्राट अशोक को उसका मूल्य बहुत अधिक चुकाना पड़ा। उनका हृदय हाहाकार कर उठा। वे चीत्कार, करुणा-पुकार जो कलिंग युद्ध के परिणाम थे उन्हें क्षण भर भी शान्ति नहीं मिलने देते थे। महाकारुणिक भगवान् तथागत के सुधावर्षी उपदेशों से उन्हें शान्ति मिली और उनका हृदय, तन-मन सब त्रिरत्न-शरण में श्रद्धा से नत हो गया।

प्रातः कालीन समीर-लहरों का झोंका आया। उपवन की तरु बेलियाँ लहरा उठीं, उन पर पड़ी ओस-बूँदे हीरक-कणिका की भाँति बालारुण रवि-रश्मियों से चमकने लगीं। वहीं सुशान्त वातावरण में भारत-सम्राट अशोक ने शान्ति-पथ-प्रेरक महास्थविर मोग्गलिपुत्त के चरणों में वन्दना किया। उनके शुभ-आशीष से उनका मानस मंजुल-पावन भावनाओं में विभोर हो गया। सम्राट देवानांप्रिय (अशोक) की रुँधी हुई वाणी थी—"भन्ते ! धर्म का उत्तराधिकारी होने का सौभाग्य क्या मुझ अकिंचन को प्राप्त हो सकेगा।" उनकी दृष्टि में उत्सुकता थी और हृदय में हलचल। कल्याणकारी स्थविर ने गम्भीर स्वर में कहा—"नहीं"

"कैसे भन्ते ?" उनका हृदय कातर हो उठा। स्थविर ने अनुभव-पूर्ण नेत्रों से सम्राट की ओर देखा और कहा—"केवल एक यत्न है वह यही कि अपनी सन्तान को त्रिरत्न की शरण में समर्पित करना।"

सम्राट ने सुना, वे स्तब्ध रह गये। उन्होंने स्नेह भरे नयनों से देखा, वैभव में पले अपने स्नेह की सजीव प्रतिमाओं को। सम्राट की आँखें मानों उनसे वैभव-त्याग का मौन प्रस्ताव कर रही थीं।

षोडशी सुकुमारी राजनन्दिनी और गुणयुक्त सुकोमल राजकुमार ने अपने पिता के स्नेह और उद्देश्य को समझा और विचार किया, धर्म के लिये जीवन अर्पित कर वे धन्य हो जायेंगे। उनके सुन्दर बदन पर हर्ष की आभा थी। उनका मृदु-स्वर था—"धर्म की अर्चना, जीवन का महान् सौभाग्य है इस हेतु विलम्ब कैसा ?" सम्राट ने सब कुछ पा लिया उन्हें प्रतीत हुआ उनकी कामना पूर्ण हो जायेगी। उनका रोम-रोम जैसे अपनी सन्तानों को आशीर्वाद दे रहा था। राजकुमार महेन्द्र और उनकी अनुजा राजकन्या संघमित्रा को प्रतीत हुआ उनकी जननी भी सुदूर विदिशा नगरी से उन्हें आशीष दे रही है।

पिता की इच्छा और धर्म की अर्चना के लिये सर्वस्व त्याग करने-वाली संघमित्रा सम्राट देवानांप्रिय अशोक की गुणवती सौंदर्यशीला पुत्री थी। सम्राट अशोक जब युवराज के रूप में थे तब उन्हें शासक बनकर उज्जैनी जाना पड़ा था। पथ में विदिशा नगरी की लावण्यवती श्रेष्ठि-कन्या विदिशा-कुमारी देवी से उनका प्रणय हुआ और वे (देवी) परिणीता के रूप में उनके साथ उज्जयिनी गईं। वहीं उनसे महामहेन्द्र एवं संघमित्रा का जन्म हुआ। दोनों शिशुओं ने अपना बाल्यकाल वहीं व्यतीत किया। फिर वे बड़े होने पर अपने पिता के साथ मगध चले गये। इन सुन्दर युगल कलिकाओं से पुत्र-पुत्रियों पर सम्राट का बहुत स्नेह था। उनकी ममता की छाया में इनकी शिक्षाओं का समुचित प्रबन्ध हुआ और रूप के साथ ये गुण में भी अद्वितीय हो गये।

युवती होने पर संघमित्रा का परिणय हो गया। राज-रानी संघमित्रा को वैभव के उपकरणों रहना पड़ता था फिर भी वे दया, ममता और शील पालन को आदर्श मानती थीं। सम्राट के प्रस्ताव एवं अपनी धर्म-भावना से इन्होंने यौवन के द्वार पर प्रवेश करते ही समस्त वैभव को त्याग और प्रव्रज्या ग्रहण भिक्षुणी हो गईं।

धर्म-संगायन के पश्चात् सम्राट देवानांप्रिय ने भगवान् के मंगलमय उपदेशों को विश्व में प्रसारित करने के हेतु कितने ही स्तम्भ, स्तूप एवं विहारों का निर्माण करवाया और सुदूर देशों में धर्म-प्रचारार्थ विद्वान भिक्षुओं को भेजा। नील-जलधि के मध्य सिंहल में भी धर्म-ज्ञान के प्राप्ति की चिर तृषा थी, वहाँ के नरेश तिष्य के आमन्त्रण पर भिक्षु महामहेन्द्र जाने के लिये प्रस्तुत हुए। स्वागत, शुभ-कामनाओं के साथ मगध-वासियों द्वारा विदा ले वे अपनी जननी के दर्शनार्थ विदिशा आये। उनकी सौभाग्य-शालिनी-माता देवी और अनुजा संघमित्रा ने गौरवशाली महामहेन्द्र स्थविर को विदा दिया। जन-समूह हर्ष, वियोग और गर्व से उन पर पुष्प-वृष्टि कर रहा था। वियोग के आँसुओं को स्मिति के आवरण में छिपाकर धर्मशीला देवी ने अपने पुत्र को आशीर्वाद दिया। स्नेहमयी बहिन संघमित्रा ने कल्याण-कामना के साथ अपने प्रिय पुत्र सुमन का कोमल कर अपने भाई के हाथों में सौंप दिया। उसकी शान्त, मधुर किन्तु रुँधी हुई वाणी थी—"जाओ भैया! उषा की लालिमा सी धर्म की यह ज्योति विश्व को शान्ति एवं अहिंसा के आलोक से पूर्ण कर दे। हमारी यही कामना है।"

उसके अग्रज महामहेन्द्र ने सुमन आदि चार भिक्षुओं के साथ सिंहल के लिए प्रस्थान किया। दिनमणि की प्रथम रश्मियों में गौरवमयी माता और पुत्री का मुख चमक उठा। "बुद्धं शरणं गच्छामि। धम्मं शरणं गच्छामि। संघं शरणं गच्छामि!!" की ध्वनि सुदूर से धीमी होती जा रही थी।

भाई के सिंहल प्रस्थान के पश्चात् भिक्षुणी संघमित्रा साधनामय जीवन बिताने लगी। प्राणिमात्र की सेवा उसके जीवन का लक्ष्य बन गया। सिंहल की राजवधू (राजा तिष्य की अनुज पत्नी) अनुला देवी, राजा तिष्य एवं प्रजा ने महामहेन्द्र स्थविर का हृदय से स्वागत किया। पथ पर श्रद्धा के पुष्प बिखर गये। जन-समूह हर्षविभोर हो गया।

महामहेन्द्र के उपदेशों से सिंहल धर्म की ज्योति जगमगा उठी। अगणित नर-नारियों से त्रिरत्न की शरण में अभिनव शान्ति प्राप्त किया।

सिंहल की नारियों ने त्यागमय पावन पथ को अपनाने की आकांक्षा प्रकट की। सदय हृदय महामहेन्द्र से उन्होंने विनय किया। वे भी उनके धर्मानुराग को समझे। उन्होंने अपने पिता सम्राट् अशोक के पास सन्देश भेजा कि वे सिंहल की नारियों का ज्ञान-तृषा को शान्त करने के लिये पुण्यमयी थेरी संघमित्रा को भेज दें।

प्रज्ञावती भिक्षुणी संघमित्रा ने भाई का आह्वान सुना वह भी धर्म के लिये। वे आनन्द विभोर हो गईं। तपस्विनी राजकन्या भिक्षुणी भेष में पावन बोधिवृक्ष की शाखा लेकर सिंहल के लिये प्रस्थान कीं। सागर तट तक हर्ष व गर्व से झूमते नर-नारियों ने अपनी श्रद्धा के पुष्प बिखेर दिये। लक्षाधिक हृदयों की शुभकामनाओं के बीच सुनील सागर की तरंगों पर संघमित्रा की नौका त्यागमयी भिक्षुणियों एवं बोधिरक्षक श्रेष्ठियों के साथ सिंहल की ओर चली। प्रतीक्षा में पलकें बिछाये सिंहल वासियों ने उनका स्वागत किया। उनकी तेजस्वी मुख-मुद्रा और अपूर्व त्याग बरबस उन्हें श्रद्धानत कर देता था। उनके हृदय-ग्राही उपदेशों को श्रवण कर राजबधू अनुला पाँच सौ सुकुमारियों एवं राजमहिलाओं के के साथ उनकी शिष्या होकर अपने को धन्य मानीं और प्रव्रज्या ग्रहण कीं।

पूर्ण ज्ञानमयी संघमित्रा सिंहल के भिक्षुणी विहार में निवास करती हुई समस्त जीवन धर्मप्रचार में व्यतीत कर दीं। इस विदेश जानेवाली प्रथम धर्मप्रचारिका ने इक्यासी वर्ष की आयु में निर्वाण प्राप्त किया।

सागर की तरंगों से विचुम्बित सिंहल में अत्यन्त सम्मानपूर्वक इनका अन्तिम संस्कार हुआ। आज सम्राट् देवनांप्रिय की गुणवती पुत्री, श्रेष्ठ

भिक्षुणी और धर्म प्रचारार्थ सर्वस्व त्यागिनी नारी-रत्न संघमित्रा नहीं है किन्तु उनकी गाथा आज भी नारी जाति के लिये गर्व की वस्तु है। विशेष रूप से धर्म-चक्र (अशोक-चक्र) अंकित तिरंग ध्वज की छाया में रहनेवाली भारतीय महिलाओं के लिये। सिंहल का विशाल बोधिवृक्ष जैसे उनकी गौरवमयी कहानी को अनुपम त्याग की स्मृति को साकार कर देता है।

अनुला

सम्राट देवानांप्रिय अशोक ने भगवान् बुद्ध की मंगलमयी उपदेश-सुधा को जन-जन में वितरित करने के लिये सीमान्त देशों में भी धर्म-प्रचारकों को भेजा। वैशाख-पूर्णिमा के पुण्य-दिवस को ताम्रपर्णी द्वीप (लंका) के राजा देवानांप्रिय तिष्य का अभिषेक सम्राट अशोक के भेजे हुए जल से हुआ था, तभी उन्होंने धर्म-प्रचार का समाचार भी सुना था।

अभिषेक के एक माह पश्चात् एक उत्सव के दिन राजा तिष्य अपने साथ के चालीस हजार नागरिकों को जल-क्रीड़ा करते छोड़कर मिश्रक (मिहिन्तले) पर्वत पर शिकार खेलने चले गये। उन्होंने एक सुन्दर मृग को सुदूर में चौकड़ी भरते देखा और उसका पीछा किया। मृग आम्र-बन में जा छिपा। तभी राजा को सुनाई पड़ा—"तिष्य! तिष्य!! इधर आ।" राजा चौंक पड़े, उनके राज्य में उन्हें केवल "तिष्य" कहकर पुकारने वाला कौन है? आगत स्थविर महामहेन्द्र ने कृपा-पूर्वक उनकी शंका निवारण करते हुए कहा—"राजन्! हम भगवान् बुद्ध के श्रावक-श्रमण हैं। तुम पर कृपा कर जम्बूद्वीप से यहाँ आये हैं।"

राजा ने आदरपूर्वक उनकी वन्दना कर कुशल-क्षेम पूछा। स्थविर ने आम्र-वृक्ष के विषय में वार्तालाप कर राजा के पाण्डित्य की जाँच की और उन्हें योग्य समझ कर "चूल-हत्थि पदोपम सुत्त" का उपदेश दिया। वहाँ स्तूप का निर्माण कराया गया जो प्रथम चैत्य के नाम से विख्यात है।

राजा के द्वारा स्थविर दर्शन एवं उपदेशों की वार्त्ता राज्य-परिवार की महिलाओं तक पहुँची। उन्होंने राजा से विनय किया कि वे भी स्थविर-दर्शन का सौभाग्य चाहती हैं।

राजा ने स्थविरों को आदरपूर्वक आमन्त्रित किया। पत्र-पुष्पों के सौरभ से युक्त मनोरम मण्डप में श्वेत आसनों पर पूज्य स्थविरों को अत्यन्त आदर के साथ बिठाया। यथा-योग्य सब के स्थान ग्रहण करने पर राजा ने उनकी वन्दना की और महा-महेन्द्र एवं उत्तिय, इट्ठिय, सम्बल, भद्दसाल आदि समस्त स्थविरों को पायस और अन्य सुस्वादु भोजन अर्पित किया।

भोजनोपरान्त राजा के छोटे भाई महानाग की पत्नी राज-रानी अनुला देवी अपनी पाँच सौ सहेलियों के साथ श्रद्धापूर्वक स्थविरों की वन्दना कीं। स्थविर महामहेन्द्र ने उन्हें कृपा करके पेतवत्थु, विमान-वत्थु और सच्च-संयुक्त का उपदेश दिया। रानी उसे बड़ी शान्ति के साथ सुनीं और अपार हर्ष का अनुभव कीं, इससे उन्हें स्रोतापत्ति-फल की प्राप्ति हुई।

इस प्रकार नागरिक, नागरिकाओं को भी सिंहली-भाषा में ही उप-देश-सुधा से तृप्त करते स्थविर महामहेन्द्र को राजा ने महा-मेघवन नामक सुन्दर उपवन में ठहराया। श्रद्धामयी रानी अनुला ने वहाँ स्वयं जाकर स्थविर की वन्दना कीं और विनय-पूर्वक एक ओर बैठ गईं। वहाँ उन्होंने उनसे भगवान् के पावन उपदेशों को सुना तथा सकृदागामी-फल की प्राप्ति कीं। दान-धर्म में अत्यन्त रुचि रखती। श्रद्धाशीला अनुला देवी की इच्छा हुई कि वे प्रव्रज्या ग्रहण करें। इस हेतु उन्होंने विनय किया। राजा तिष्य भी स्थविर से रानी को प्रव्रजित करने की प्रार्थना किये। इस पर स्थविर ने उत्तर दिया—"शुभे! यदि आप मेरी अनुजा भिक्षुणी संघमित्रा को बोधि-शाखा सहित बुला लें तो आपकी शुभाकांक्षा-पूर्ण होगी।"

राज-रानी उपासिका अनुला के अनुरोध पर राजा तिष्य ने बड़ी श्रद्धा के साथ अपने भांजे अरिष्ट को उसके साथियों सहित महाराज देवानांप्रिय अशोक के पास भेजा कि वे पूज्य भिक्षुणी संघमित्रा को सादर लिवा लावें।

ताम्रलिपि होकर अरिष्ट पुष्पपुर (पटना) पहुँचे। रानी अनुला राज-वैभव को त्याग कर एकादश-शीलों का पालन करने लगीं। उन्होंने राज-निकेतनों का निवास भी छोड़ दिया और पाँच सौ कन्याओं एवं राज-महिलाओं के साथ उपासिका-विहार नामक स्थान में निवास करती हुई श्रेष्ठ भिक्षुणी संघमित्रा की प्रतीक्षा करने लगीं। भारत-सम्राट देवानांप्रिय अशोक ने राजा तिष्य का अनुरोधमय सन्देश सुना और उसे संघमित्रा से कहा। धर्म के लिये सर्वस्व त्यागिनी संघमित्रा ने सुना कि कई सहस्त्र महिलाओं के साथ रानी अनुला प्रवज्या ग्रहण करना चाहती हैं तो वे सहर्ष तैयार हो गईं।

महास्थविर मोग्गलिपुत्त के परामर्श से महाराज देवानांप्रिय ने एक सुन्दर स्वर्ण-कड़ाह (गमला) निर्मित करवाया और महाबोधि स्थान से सात योजन (५६ मील) पथ को तोरण बन्दनवार एवं पुष्पों से सजा, सुगन्धित जल से सिंचन कराया, फिर पूजा-अर्चना कर उन्होंने हेम-शलाका से महाबोधि तरुवर की एक दक्षिणी शाखा पर चिन्ह अंकित किया और विनय की कि यदि उनकी श्रद्धा सत्य है तो शाखा स्वयं हेम-कड़ाह में आ जाय। शाखा हेम-कड़ाह में लग गई। पुष्प-वर्षा एवं जय-घोष के बीच कुसुमपुर (पटना) के पुरवासियों ने महाबोधि का स्वागत किया।

रानी अनुला की लालसा पूर्ण हुई और आठ श्रेष्ठियों, रक्षकों एवं थेरियों के साथ स्थविरी संघमित्रा को ले सम्राट गंगा पार कर विन्ध्याटवी पहुँचे। फिर ताम्रलिपि जा महाबोधि की पूजा कर पुत्री को सहर्ष बोधि-शाखा सहित विदा किये। चौथे दिन भिक्षुणी संघमित्रा की नौका

जम्बुकोल पट्टन होती हुई अनुराधपुर पहुँची। वहाँ रानी अनुला और समस्त नर-नारियों ने उस स्वर्ग तुल्य सजाई गई नगरी में महाबोधि सहित संघमित्रा एवं आगत-जनों का हृदय से स्वागत एवं अभिनन्दन किया।

जहाँ सर्वप्रथम भिक्षुणी संघमित्रा लंका में आई उस स्थान पर समुद्र-पर्ण-शाला के नाम से सुन्दर भवन का निर्माण कराया गया।

श्रेष्ठ-पुष्पों एवं पताकाओं से सजे स्थान पर हर्ष-उल्लास तथा श्रद्धा से महाबोधि की पूजा कर हेम-कड़ाह को पृथ्वी पर रोप दिया गया। श्रेष्ठियों को उचित स्थान एवं धन-धान्य प्रदान किया गया।

महाथेरी संघमित्रा के चरणों में रानी अनला पाँच सहस्त्र कुमारियों एवं पाँच सहस्त्र अन्तःपुर-वासिनियों के साथ वन्दना कर प्रवज्या ग्रहण कीं।

महाथेरी संघमित्रा उपासिका-विहार नामक भिक्षुणी आश्रम में निवास करने लगीं थीं। श्रद्धापूर्वक उनसे उपदेश सुनती हुई अपनी मण्डली सहित भिक्षुणी अनुला ने साधना कर बुद्धशासन को पूर्ण कर अर्हत्व प्राप्त कर लिया।

आज न सिंहल की धर्म-परायणा रानी त्यागमयी भिक्षुणी अनुला है और न उनकी सहेलियाँ, किन्तु पावन महाबोधि आज भी उनकी श्रद्धा-भावना की स्मृति दिला रही है। जिस रानी ने सिंहल की नारी-जाति को अपनी श्रद्धा और धर्म-भावना से महाथेरी संघमित्रा के दर्शन कराये। तथा धर्म की ज्योति के आलोक से सिंहल को आलोकित करने में सहायिका बनीं, वह सिंहल-वासियों के लिये ही नहीं, प्रत्युत विश्व के सभी बौद्धों के लिये सद्प्रेरणा देने वाली आदर्श बौद्ध-महिला के रूप में चिरस्मरणीय रहेगी।

चारुमती

सम्राट ने अशोक विश्व-विजय की महत्वाकांक्षा से त्रि-कलिंग पर चढ़ाई कर दी। तलवारों की चमक, हाहाकार और चीत्कारों से कलिंग काँप गया। रक्त की नदियाँ बह गईं। सम्राट का कठोर हृदय सिहर उठा। अशान्त की ज्वाला धधक पड़ी। उससे त्राण पाने के लिए उन्होंने त्रिरत्न की शरण ग्रहण किया और उन्हें मिला उनकी महत्वाकांक्षा से अधिक। उन्होंने मानव ही नहीं प्राणि-मात्र के हृदय को जीत लिया और उस उपदेश-सुधा को जन-जन में वितरित करने के लिए उन्होंने अनेकानेक स्तूपों, विहारों एवं स्तम्भों का निर्माण करवाया और देश-देश में धर्म-प्रचारक भेजे।

उन्हीं सम्राट की पुत्री का नाम था चारुमती। धार्मिक वातावरण तथा सम्राट देवानांप्रिय अशोक की ममता में पली चारुमती की बचपन से ही धर्म की ओर रुचि थी। विद्वान स्थविरों की शिक्षा से उसने थोड़े समय में अपनी बहिन सघमित्रा की भांति धार्मिक सिद्धान्तों को समझ लिया। गुणों के साथ श्रद्धा ने चारुमती के सौंदर्य को कई गुनी वृद्धि प्रदान की। युवती होने पर राजनन्दिनी चारुमती का विवाह रूप, गुण सम्पन्न श्रद्धालु युवक देवपाल के साथ हुआ। देवपाल ने ऐसी सुलक्षणा अर्धाङ्गिनी पाकर अपने भाग्य की सराहना की। चारुमती भगवान् की अर्चना और दान-धर्म में अधिक समय व्यतीत करती थी। देवपाल अपनी पत्नी के कार्य को सराहना करते और स्वयं भी सहयोग देते थे। वे दोनों प्रायः सम्राट के समीप पाटलिपुत्र में रहा करते थे। महामहेन्द्र एवं संघमित्रा के दूर रहने के कारण चारुमती का मन राजनिकेतनों में कम लगता था साथ ही अशोक-पत्नी विमाता महरानी तिष्यरक्षिता के

भीषण राजनैतिक षड्यन्त्रों के कारण वे विरक्त सी हो गई थीं। जब सम्राट अशोक ने बौद्ध तीर्थों की यात्रा करने के विचार से राज भवन को त्यागने का विचार किया तो चारुमती भी अपने स्नेही वृद्ध पिता के साथ जाने के लिये प्रस्तुत हो गई। महाराज ने यात्रा में कष्ट होगा कह कर अपनी सुकुमारी पुत्री को अपने साथ चलने से रोका। किन्तु राज-कन्या चारुमती कन्या ने विनय पूर्वक कहा—"तात ! बहिन संघमित्रा धर्म प्रसार कर जीवन सार्थक कर रही हैं। मैं भी पावन-स्थलियों का रज माथे पर ले कृतार्थ हो सकूँ यही लालसा है।

सम्राट उसे न रोक सके और प्रिया पुत्री चारुमती तथा दामाद देव-पाल के साथ भगवान् की जन्म-भूमि लुम्बिनी तथा उत्तरा खंड के पुण्य-स्थानों के दर्शन का उन्होंने नेपाल की ओर प्रस्थान किया। पवित्र तीर्थ स्थानों के दर्शन से चारुमती का रोम-रोम आन्दित हो जाता था। वहाँ वह धूप-दीप से पूजा-अर्चना करती और दीन-दुखियों को भोजन-वस्त्र से तृप्त किया करती थीं।

यात्रा करते हुए वे ललितपुर (पाटन) नामक ग्राम में पहुँचे। गिरिराज हिमालय के अंक स्थित उपत्यका ने चारुमती के मन को मुग्ध कर लिया। उसके पति को भी वह स्थान मनोरम प्रतीत हुआ। उन्होंने वहीं निवास करने की इच्छा प्रगट की। पुत्री की इच्छाओं को पूर्ण करने वाले स्नेही पिता सम्राट देवानांप्रिय अशोक ने वहाँ एक सुन्दर नगर का निर्माण करवाया जो अशोक-पट्टन के नाम से प्रसिद्ध है। जो सुन्दर प्रासाद और भव्य बिहारों से वैभव-शालिनी बन गया। सम्राट ने वहाँ पाँच स्तूप भी बनवाये जो आज भी उनका स्मरण दिलाते हुए विद्यमान हैं। ये स्तूप "थूर" के नाम से जाने जाते हैं।

जीवन के शेष दिन व्यतीत करने के लिए चारुमती अपने पति देवपाल सहित अशोक-पट्टन में रह गईं। कुछ समय पश्चात् एक और नवीन नगर इन्होंने बसाया वह देवपाल के नाम पर

देवपट्टन कहलाया। वहाँ चारुमती ने भव्य विहार का निर्माण करवाया जो अब भी उसकी धर्म-भावना का यशोगान कर रहा है।

सम्राट-की नेपाल-यात्रा के पश्चात् वहाँ धर्म-प्रचारकों, विद्वानों और भिक्षुओं का आना प्रारम्भ हो गया। रानी चारु ने नये नये संघाराम एवं भिक्षु-भिक्षुणियों के निवास तथा अर्चना के हेतु सुन्दर विहारों का निर्माण करवाया था। समस्त नेपाल अमृतमय उपदेशों एवं पावन सुत्त ध्वनियों से हर्ष-विभोर हो गया। त्रिरत्न की शरण में नेपाल वासियों को नवीन जीवन मिला जिसमें शान्ति थी, सुख था।

देवानांप्रिय अशोक की प्रिय पुत्रियों ने सुदूर उत्तर से सुदूर दक्षिण तक धर्म-ज्योति को आलोकित कर दिया। चारुमती ने भी संघमित्रा की भांति प्रव्रज्या ग्रहण कर ली और शेष जीवन धर्म-प्रसार में व्यतीत किया। समस्त नेपाल को स्वर्णिम युग के दर्शन हुए, स्तूप, विहार चैत्यों से नेपाल की भूमि शोभित हो उठी। पाटन के लगभग तेरह सौ चैत्य एवं असंख्य स्तूप विहार तत्कालीन धर्म प्रसार के प्रतीक बने श्रद्धामयी चारुमती के धर्म-प्रचार एवं त्यागपूर्ण प्रव्रजित जीवन का यशोगान कर रहे हैं। जैसे श्रेष्ठ भिक्षुणी संघमित्रा ने सुदूर दक्षिण में सुनील-सागर के बीच धर्म की ज्योति जगाई उसी तरह उनकी बहिन राजकन्या भिक्षुणी चारुमती ने उत्तर में हिमालय के वक्षस्थल पर शोभित नेपाल को धर्म की आभा से आलोकित कर दिया।

राजकन्या कोजो

सम्राट् हर्ष के समय में तिब्बत देश में स्त्रोङ्ग-चन-गेंवो शासन करते थे। उनकी नेपाल-नरेश अंशुवर्मन से प्रगाढ़ मैत्री थी। शासक स्त्रोङ्ग-चन-गेंवो प्रतापी, पराक्रमी एवं दृढ़निश्चयी नरेश थे। उनके शौर्य पर मुग्ध होकर नरेश अंशुवर्मन की कन्या भृकुटि के उन्हें वरण किया जिससे दोनों राष्ट्रों में मैत्री का सूत्र दृढ़ हो गया। इन्हीं तिब्बत-नरेश के साथ चीन के तत्कालीन नरेश ने अपनी पुत्री कोजो के परिणय का विचार किया क्योंकि इस विवाह से तिब्बत, चीन और नेपाल तीनों राष्ट्रों में घनिष्टता होने की आशा थी। सम्राट हर्ष और नेपाल के अधीश्वर अंशुवर्मन में बड़ा प्रेम था जिसे सम्राट हर्षवर्धन ने जीवन भर निभाया। सम्राट की मृत्यु के पश्चात् चीनी नरेश ने अपने एक उच्चाधिकारी वांग हुऐनत्से के साथ कान्य-कुब्ज प्रदेश में एक सद्भावना-मंडल भेजा किन्तु भारत के तत्कालीन नरेश अर्जुन ने उसका स्वागत न कर विरोध किया। इस पर नेपाल और तिब्बत की सेनायें चीन की सहायता कीं। इस सहायता से चीन तिब्बत का कृतज्ञ हो गया और चीन के अधीश्वर ने अपने पूर्व निश्चय के अनुसार अत्यन्त हर्षोत्सव के साथ राज कन्या कोजो को स्त्रोंग-चन-गेंवो के हाथों सौंप दिया। इस चीनी राजकन्या को बौद्ध-धर्म की ओर बहुत आकर्षण था। बहुत समय पूर्व भारत की बनी हुई एक सुन्दर मूर्ति मध्य एशिया के वणिकों द्वारा चीन पहुँचाई गई थी। कोजो बचपन से उस दिव्य प्रतिमा पर बड़ी श्रद्धा रखती थी। भगवान् बुद्ध की वह पावन प्रतिमा भी उसे दहेज में मिली।

तिब्बत के राज-निकेतनों में उसका परिचय पटरानी अथवा उसकी सपत्नी भृकुटि से हुआ। रानी भृकुटि भी अपने साथ भगवान् शाक्य-मुनि

की मूर्ति ले गई थी और वही उनके इष्टदेव थे। इस प्रकार दोनों रानियां त्रिरत्न की उपासना कर अपने को कृत-कृत्य मानती थीं। इनके शील-साधनामय जीवन का प्रभाव नरेश गेम्बो पर भी पड़ा। उनकी द्वितीय रानी कोजो ज्योतिष-विद्या में प्रवीण थी। जब राजा गेम्बो ने पटरानी भृकुटि के इष्टदेव के लिये एक विहार बनवाने का निश्चय किया तब इन्होंने इस हेतु उससे भी परामर्श किया। रानी ने देवआलय विहार के लिये एक गहरे सुन्दर झील को उपयुक्त स्थान बताया। वह समझी सम्भवतः नरेश अपने निश्चय से विचलित हो जायँगे किन्तु उनकी श्रद्धा दृढ़ हो चुकी थी। पराक्रमी नरेश गेंवो ने कठिन श्रम एवं व्यय द्वारा जल पूर्ण झील को ईंट-पत्थरों से पटवा कर स्थल में परिवर्तित कर दिया और वहाँ देव, आलय (तिब्बत की भाषा में ल्हा, सा) बन कर तैयार हो गया।

आज भी उसी विहार के नाम पर तिब्बत की राजधानी, ल्हासा के नाम से विख्यात है। श्रद्धालु दर्शनार्थियों के आकर्षण केन्द्र ल्हासा के विहार तत्कालीन तिब्बत की धार्मिक स्थिति के परिचायक हैं। जब रानी कोजो के बताये हुए जलयुक्त सरोवर पर श्रद्धाशील नरेश स्त्रोङ्ग-चन-गेंवो ने बिहार का निर्माण करवाया था। जहां के राजपरिवार को धर्म की सेवा में इतनी श्रद्धा थी वहाँ जनता भी तथागत के उपदेशों को प्राप्त कर कृत-कृत्य हो गई। धर्म-प्रसार के सौरभ में राजकन्या कोजो का नाम सदैव स्मरणीय रहेगा। उस गौरवपूर्ण समय से तिब्बत में धर्म की उन्नति होती रही और आज भी तिब्बत का प्रदेश त्रिरत्न-शरण में विहार एवं स्तूपों और गुम्पों से पूर्ण है।

राज्यश्री

वह राजनन्दिनी थी, राज-वधू और राज-महिषी भी किन्तु वैभव के उपकरणों के बीच भी उसे दुःख के थपेड़ों ने आँसुओं में डुबा दिया। नितान्त दुःखी होकर वह स्वयं को अग्नि की ज्वाला में भस्म कर देना चाहती थी किन्तु वह ऐसा करने में सफल न हो सकी।

उस राजकन्या का नाम था राज्यश्री अथवा राजश्री। स्थाणीश्वर (थानेसर) के प्रतापी नरेश प्रतापशील अथवा प्रभाकर वर्धन ने हूणों को परास्त कर मालव, गुर्जर, सिन्धु-प्रदेश और सागर-तट के प्रदेशों पर विजय प्राप्त की थी। इन धार्मिक और उदार राजा की रानी यशोवती भी बड़ी पतिव्रता और गुणवती थीं। राज्यश्री इन्हीं राज-दम्पत्ति की पुत्री थी। इनके दो अग्रज भी थे, एक भाई का नाम था प्रभाकरवर्धन और दूसरे का हर्षवर्धन। दोनों राजकुमार अपनी अनुजा राज्यश्री पर प्राणों से अधिक स्नेह रखते थे। राज्यश्री विद्याध्ययन के साथ-साथ कला की भी आराधना करने लगी। तरुणी होते-होते वह नृत्य एवं संगीत में भी प्रवीण हो गई। सौंदर्य एवं कला का सुन्दर समन्वय, उसे राज्य-लक्ष्मी सा बना दिया था। माता-पिता तथा पुरजन सभी उस पर स्नेह रखते थे। दया, ममता और उदारता तो उसमें पूर्ण रूप से विद्यमान थी। उसके गुणों का सौरभ विभिन्न प्रदेशों में पहुँचा और थानेश्वराधीश के समीप उससे विवाह के हेतु सन्देश पर सन्देश आने लगे।

रानी यशोवती के अनुरोध पर मौखरिवंश के राजा अवन्तिवर्मा के पुत्र गृहवर्मा के साथ थानेश्वर की रूपवती गुणशीला राजनन्दिनी राज्यश्री का पाणिग्रहण बड़ी धूम-धाम से हुआ। प्रेमाश्रुओं के बीच सबसे विदा

हो असंख्य रत्नाभरणों से शोभित राज्यश्री ने गृहवर्मा के राज-भवन को अपनी सुषमा-दीप से आलोकित कर दिया। प्रणयिनी और प्रणयी नित नई कथाओं का निर्माण करते सुखमय जीवन व्यतीत करने लगे।

थानेश्वर नरेश कुछ अस्वस्थ थे तभी हूणों ने चढ़ाई कर दी। उनका नाश करने के लिये राज्यवर्धन उत्तरापथ गये। राजा की बीमारी बढ़ गई और उनका प्राणान्त हो गया, रानी यशोवती सती हो गईं। कुमार हर्ष ने उस विपत्ति में राज्य-कार्य सम्हाला और हूणों पर विजय कर राज्यवर्धन के लौटने पर राज्य-कार्य उन्हें सौंप दिया। राज्यवर्धन राजकीय षड्यन्त्रों एवं प्रियजनों के वियोग से विरक्त हो काषाय-वस्त्र धारण करना चाहे।

गृहवर्मा के राज-निकेतन में राज्यश्री ने अपने माता-पिता के स्वर्गारोहण का समाचार सुना। उसका हृदय तड़प उठा, वह बेसुध हो गई। उस शोक को तनिक भी न भुला पाई थी, तभी निरभ्र नभ से अचानक वज्रपात सा हुआ और उसका नन्दन-वन सा मधुमय जीवन उससे झुलस गया। मालवा के राजा ने उसके सौंदर्य से आकर्षित हो उसके पति गृहवर्मा का वध कर दिया। शोकग्रस्त रानी राज्यश्री कान्यकुब्ज की कारागार में डाल दी गई। विपत्ति सीमा पर पहुँच चुकी थी किन्तु राज्यश्री अपनी सतीत्व-रक्षा के लिये प्राणों की बाज़ी लगा रही थी।

राज्यवर्धन ने अपनी अनुजा पर होते हुए अत्याचारों का सन्देश सुना। वैराग्य वीरता में परिवर्तित हो गया। हर्षवर्धन ने पुनः राज्य का शासन-सूत्र सम्हाला और राज्यवर्धन मालव-सेना से जूझ पड़े। विजय श्री राज्यवर्धन के हाथ लगी। विजयी राज्यवर्धन बहिन को मुक्त करने जा रहे थे तब गौड़ाधिपति ने छल से राज्यवर्धन को मार डाला। हर्षवर्धन ने सुना, वे क्रोध से काँप उठे और उन्होंने गौड़ों के नाश की प्रतिज्ञा की तथा वे दिग्विजय के हेतु निकल पड़े। अपने परिवार के

भाई भण्डि को उन्होंने गौड़-प्रदेश की ओर भेजा और स्वयं (पश्चिम मालव, मथुरा) परियात्र तथा कामरूप (आसाम) विजय कर वापस आ रहे थे तभी उन्होंने सुना राज्यश्री किसी प्रकार मुक्त हो अपनी परिचारिकाओं सहित वन-वासिनी हो गई।

एक पर एक दुःखों के आने के कारण विन्ध्या के बीहड़-कानन में भटकती राज्यश्री ने अपने आप को अग्नि में समर्पित करना श्रेयस्कर समझा। उसके अनुरोध पर उसकी परिचारिकाओं ने रो-रोकर चिता बनायी। अग्नि जल उठी। वियोग के दुःख से परिचारिकायें विलाप करने लगीं। राज्यश्री अग्नि में कूदना ही चाहती थी तभी एकाएक येक घुड़सवार ने कूद कर उसे खींच लिया। राज्यश्री ने आँखें खोलीं उसने अपने मस्तक को अपने प्रिय भाई सम्राट हर्ष के स्नेहिल अंक पर पाया। हर्षवर्धन, स्थविर दिवाकर मित्र के निवास-स्थान के समीप रहने वाले एक व्यक्ति से समाचार पा वहाँ जा पहुँचे थे। उन्होंने राज्यश्री से राज-भवन में चलने का आग्रह किया। किन्तु विरक्त राज्यश्री ने प्रव्रजित हो साधनामय जीवन व्यतीत करने की आज्ञा चाही। सम्राट हर्षवर्धन के अनुरोध को राज्यश्री न मानी तो उन्होंने स्थविर दिवाकर मित्र से कहा वे भी समझावें कि "जबतक मैं गौड़ विजय न कर लूँ तबतक मेरी एकमात्र आश्रय मेरी अनुजा मेरे साथ रहे फिर काषाय ग्रहण करे।" राज्यश्री सभी के आग्रह पर अपने भाई के साथ चली गई। दान, धर्म एवं शील-पालन से उसे अभिनव शान्ति मिली। सम्राट हर्षवर्धन ने गौड़ों को परास्त किया। त्रिरत्न की शरणागता, दयामयी राज्यश्री के अनुरोध से सम्राट ने गौड़ों को दण्ड न देकर क्षमा कर दिया। विजयी सम्राट हर्षवर्धन की विजय-पताका समस्त उत्तराखंड में फहराने लगी। धर्म, काव्य, साहित्य एवं कला की भी दिन प्रति-दिन उन्नति होने लगी थी। स्थविर दिवाकर मित्र एवं अनुजा राज्यश्री के प्रभाव से सम्राट ने गौड़ाधिप को क्षमा प्रदान किया था इससे उन्हें

आन्तरिक शान्ति मिली और उनका हृदय भगवान् बुद्ध के प्रति श्रद्धा-विभोर हो उठा। शिव के अनन्य उपासक होने पर भी वे बौद्ध-धर्म की ओर झुक गये। उन्हें त्रिरत्न के प्रति अगाध श्रद्धा हो गई थी।

श्रेष्ठ दानशीला राज्यश्री ने सम्राट हर्ष के राज-निकेतन से विदा ले प्रव्रजित हो काषाय वस्त्र ग्रहण कर लिया और पुण्यमय जीवन व्यतीत करती हुई विहार में रह धर्मज्ञान में प्रवीण होने लगी। सम्राट हर्ष के राजनिकेतनों से उनकी अनुजा राज्यश्री तो चली गई किन्तु त्रिरत्न के मंगलमय उपदेश रूपी अमूल्य निधि अपने भाई सम्राट हर्ष को भी प्रदान की जिसमें शांति थी और अभिनव आल्हाद भी।

———

भृकुटी

भारतवर्ष में सम्राट हर्षवर्धन राज्य करते थे जिनके दान और उदारता के सन्मुख जन-जन का मस्तक नत हो जाता था। सम्राट की बहिन राज्यश्री, राज्य की नहीं सम्पूर्ण भारत की लक्ष्मी थी सुख सौभाग्य की निर्मल श्रोतस्विनी सी। इनकी सुप्रेरणा ने सम्राट को त्रिरत्न शरण की ओर आकर्षित किया। उन्हीं दिनों नेपाल में अंशुवर्मन राज्य करते थे। उनके समय से नेपाल भी बौद्ध धर्म का केन्द्र बन रहा था। सम्राट हर्षवर्धन और अंशुवर्मन में प्रगाढ़ मैत्री थी।

इन्हीं अंशुवर्मन की कन्या का नाम था, भृकुटि। सौंदर्य-शीला भोली राजनंदिनी की शिक्षा का सुन्दर समुचित प्रबंध कर राजा अंशुवर्मन को बड़ी प्रसन्नता हुई। वह नित्य ही त्रिरत्न की वन्दना करती और विहारों में जा दान एवं अर्चना कर संतोष का अनुभव करती थी। वह कलिका धीरे-धीरे पुष्प के रूप में विकसित होने लगी। उसके रूप सौरभ की वार्ता दूर दूर तक पहुँचने लगी। नेपाल के पड़ोसी राज्य तिब्बत के तत्कालीन नरेश स्त्रोङ्-चन-गॅंवो थे, जो अपने पराक्रम से विख्यात हो रहे थे, जिन्होंने सभ्यता से दूर पड़े तिब्बत में शिक्षा का प्रसार किया। उन्होंने भी सुना, सोचा, यदि नेपाल का रूप-कुसुम तिब्बत के राजप्रासाद को अपने सौरभ से सुवासित कर सके तो तिब्बत का सौभाग्य है।

राजा गॅंवो ने नेपाल पर चढ़ाई कर दी, वीर नेवार सैनिक ने सामना किया किन्तु पराक्रम शाली गॅंवो के सन्मुख उन्हें पराजित होना पड़ा। पड़ोसी से बैर रखना, दूरदर्शी नरेश अंशुवर्मन को उचित नहीं प्रतीत हुआ। उन्होंने संधि का संदेश भेजवाया। सम्राट स्त्रोङ्-चन-गॅंवो ने संधि स्वीकार की किन्तु एक शर्त थी—"भृकुटि उनकी राजरानी बने।

शौर्य की आराधिका राजकन्या भृकुटि ने सुना, वह हर्षित हुई उनकी वीरता पर वह मुग्ध हो चुकी थी। संधि की शर्त स्वीकृत थी। मंगल-वाद्यों के बीच सिर से पैर तक रत्नाभरणों एवं बहुमूल्य परिधानों से सज्जित राजनंदिनी का विवाह सम्राट गँवो के साथ हो गया। असंख्य दहेज दे, आँसुओं को रोकते हुए नरेश अंशुवर्मन ने अपनी लाड़ली पुत्री को विदा दिया।

तिब्बत का राज-निकेतन रानी भृकुटि की रूप ज्योति से जगमगा उठा। उन्हें पट रानी का पद प्राप्त हुआ। राजा गँवो अपनी प्रणयिनी के सुख का पूर्ण ध्यान रखते थे। रानी तथागत की सच्ची आराधिका थीं। उनकी धार्मिक भावना को देख कर उनके स्नेही पिता ने उन्हें भगवान् शाक्य-मुनि, मैत्रेय एवं तारा की चंदन निर्मित पावन प्रतिमायें भी दहेज में दी थीं।

पटरानी नित्य ही उन देव-मूर्तियों की धूप, दीप, पुष्पों से अर्चना कर हर्षित होती थीं। अपनी धार्मिकता एवं ममतामय जीवन में उन्होंने अपने प्रणय के देवता गँवो प्रति कर्तव्यों में कमी न आने दी। सुषमा शाली राजनिकेतनों में नव-परिणीता प्रेयसी के रत्नाभरण की रुनझुन, झीनी सारी (एक तरह का नेपाली वस्त्र) की सरसराहट, प्रिय के अभि-नंदन में होने वाले संगीत-निगुंजन से कल्पनातीत वैभव विहँस पड़ता था। वह अपने पति तिब्बत के नृपति गँवो की सच्ची जीवन संगिनी बन गई।

प्रातः अर्चना के पश्चात् ऊँचे-ऊँचे शैल श्रृङ्गों को वे अलिंद पर खड़ी देख रही थीं। हिम से मंडित उत्तुंग शिखर ऐसे प्रतीत होते थे जैसे सुदूर में रजत मुकुट धारी राजपुरुषों की सभा विराज रही हो। अगरु धूम से सुवासित वातावरण में उसका कोमल हृदय कई भावों में डूबा हुआ था। "उन दिनों नृपति न जाने कहाँ चले जाया करते थे, कभी कड़ी शीत में, प्रातः, कभी संध्या को।" यही सोच रही थी तभी

उन्होंने धीरे-धीरे आकर प्रणयिनी के नयनों को अपने हाथों से ढँक लिया। रानी भृकुटि का कोमल स्वर था—"मैं पहचान गई।" दोनों की मुक्त हँसी का उत्तर विशाल प्रासाद की प्रतिध्वनि ने दे दिया।

राजा का गम्भीर स्वर था। "पटरानी! चलो, मैंने तुम्हारे लिए एक विशेष वस्तु का निर्माण करवाया है। कहीं वह मेरी भृकुटि को पसन्द आ जाय तो मैं अपने को बड़ा भाग्यशाली समझूँगा।

नवनिर्मित देवालय (विहार) में पुष्पों की वृष्टि हो रही थी। असंख्य नर-नारियाँ अपने सर्वश्रेष्ठ वस्त्राभूषणों से सज्जित हो अर्चनार्थ स्वर्ण पात्र लिये खड़ी थीं। धार्मिकता एवं सौंदर्य की रानी भृकुटि ने देखा, सुस्त ध्वनियों से गूँजते विहार में उसके इष्टदेव की मूर्तियाँ स्थापित हो चुकी हैं। उसने पार्श्व में खड़े अपने प्रिय की ओर देखा और महाकारुणिक शाक्य-मुनि, मैत्रेय एवं देवी तारा की दिव्य प्रतिमाओं के सम्मुख श्रद्धा नत हो गईं। उन्होंने विधिवत् पूजा-अर्चना कर दान आदि से सबको सन्तुष्ट किया। फिर आशीर्वादों के बीच वे प्रासाद की ओर चली गईं। उनका हृदय हर्षविभोर हो रहा था। विजेता तिब्बत पर यह नेपाल की धर्म-विजय थी। बुद्धधर्म के कल्याणकारी आलोक से तिब्बत का अज्ञानान्धकार नष्ट हो रहा था। तिब्बत के इस प्रथम विहार को बनवाने के लिये नृपति को पर्याप्त परिश्रम करना पड़ा। कारुणीक विहार के हेतु भूमि चयन के लिये नृपति ने अपनी द्वितीय महिषी चीनी राजकन्या से सम्मति ली। ज्योतिष-प्रवीणा रानी कोजो ने सपत्नी भृकुटि के प्रति ईर्ष्या रखकर कहा था कि राजमहल से दूर झील ही उपयुक्त स्थान है। राजा गेंवो के दृढ़ निश्चय के कारण सतत परिश्रम से झील को ईंट-पत्थरों से पूरित कर विहार योग्य भूमि बनाई गई। उस पर देवस्थान (तिब्बती भाषा में जिसे "ला" कहते हैं) विहार (जो तिब्बती भाषा में "सा" कहलाता है।) निर्मित कराया गया। इस प्रकार वर्तमान "लासा" बना और उसमें देवमूर्तियों की स्थापना हुई। रानी कोजो ने

इसके निर्माण के समय अनेक विघ्न डाले पर सफलता न मिली। उसी लासा के नाम पर आज भी तिब्बत की राजधानी ल्हासा प्रसिद्ध है।

रानी भ्रकुटि ने सुना उनकी मातृभूमि नेपाल में भारतीय विद्वान् "कुमार" पधारे हैं। उन्होंने श्रद्धापूर्वक उन्हें निमन्त्रित किया। उनका स्वागत कर उनसे भगवान् के मंगलमय उपदेशों को सुनकर अपने को धन्य माना।

कालान्तर में उसने नेपाल आये हुए भारतीय भिक्षु शील-मंजु को तिब्बत में आमन्त्रित किया। धर्मप्रचारक भिक्षु से राजा और रानी का अनुरोध था कि वे तिब्बत को तथागत के विमल उपदेशों से तृप्त करें। भिक्षु मंजुशील ने इसे स्वीकार कर अनेक धर्मग्रन्थों का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया। धर्मशीला रानी भृकुटि के सुप्रयत्नों से तिब्बत की धरा धन्य हो गई। त्रिरत्न के मंगलमय उपदेश-सुधा से जन-जन का जीवन कृतार्थ हो गया।

आज न रानी भृकुटि है न उसके प्रिय सम्राट गेंवो किन्तु ल्हासा का वह विहार आज भी उनकी धार्मिक-भावना की स्मृति को जगा कर श्रद्धा-विभोर कर देता है।

उस विहार में एक विचित्रता है कि वहाँ कोई भी व्यक्ति जूते उतार कर नहीं जाता। वहाँ जूते पहन कर ही जाना पड़ता है। न पहनने से अनर्थ होगा ऐसा विश्वास है। जो कुछ हो तिब्बत की राजधानी 'लासा' नाम के साथ रानी भृकुटि की धर्म-भावना कभी विस्मृत न होगी।

———

कुमार देवी

सारनाथ के प्राचीन ध्वंसावशेषों में अनुपम कल [illegible] ागार धर्म चक्र जिन विहार की बेल बूटेदार दीवारें, जुड़ाइ क नमून, सुरंग, सरोवर और परिवेण कुमार देवी के यशोगान कर रहे हैं। धर्म की भावना से ओत-प्रोत कुमार देवी का आन्तरिक सौंदर्य अद्वितीय था। वे शारीरिक सौंदर्य में भी अनिन्द्य सुन्दरी थीं। सारनाथ और श्रावस्ती से प्राप्त शिलालेखों में उसके लावण्य का मनोहारी वर्णन है। लिखा है—"वह एक दिव्याङ्गना के समान सुन्दर थीं, स्वच्छ शरद—चंद्र की भांति निर्मल थीं। मानो साक्षात् तारिणी ने पतितों के उद्धार के लिये अवतार लिया हो। ब्रह्मा को भी कुमार देवी जैसी अनुपम सुन्दरी की रचना करने का गर्व था। चन्द्रमा भी उसे देखकर लज्जित हो जाता था।" वह सौंदर्य-शालिनी रूप एवं गुणों की साकार प्रतिमा कुमार देवी काशी की बौद्ध महारानी देवी के नाम से प्रसिद्ध हुई।

ये गया जिले के पीठी प्रदेश के सामन्त देवरक्षित की पुत्री थीं। इनकी माता का नाम शंकर देवी था, जो अंगजन पद के अधिपति की गुणवती कन्या थीं। सामन्त देव रक्षित और उनकी पत्नी शंकर देवी दोनों बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। प्रतिमास अमावस्या और पूर्णिमा को वे बोध गया जाते थे और वहाँ श्रद्धापूर्वक महाबोधि एवं तथागत की अर्चना-वन्दना कर शान्ति तथा संतोष का अनुभव करते थे। दान-पुण्य में वे सदा अग्रणी रहते थे। कुमार देवी भी अपने माता-पिता के साथ गया जाती थीं। और बाल-सुलभ श्रद्धा से भगवान् एवं महाबोधि की अर्चना करती थीं। सामन्त एवं सामन्त पत्नी अपनी रूपवती पुत्री की धर्म-भावना तथा सद्गुणों को देखकर अत्यन्त प्रसन्न होते थे। उन्होंने

एक विद्वान भिक्षु से अपनी पुत्री की शिक्षा-दीक्षा के लिये अनुरोध किया। वे उन्हीं से बौद्ध सिद्धान्तों में निपुणता प्राप्त कीं। उन दिनों अनेक आचार्य नेपाल, तिब्बत और सुदूर चीन की ओर धर्म-प्रचारार्थ जाया करते थे। उनकी कष्ट-सहिष्णुता, विद्वता एवं धर्म-प्रचार की उत्कट भावनाओं से वे अति प्रभावित हुईं। विक्रमशिला एवं नालंदा विद्यापीठ तब भी उसी तत्परता से धर्म-प्रसार में रत थे। फिर भी सम्राट अशोक के स्वर्णिम युग जैसी स्थिति बौद्ध-धर्म की नहीं थी। कुछ ह्रास हो चला था विशेष रूप से काशी राज्य के निकट के जनपदों में वर्तमान (उत्तर-प्रदेश में)। धर्म की अवनति देखकर उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने राजकन्या संघमित्रा तथा चारुमती की भांति प्रव्रज्या ग्रहण कर धर्म-प्रचार का निश्चय किया। उन्हें इन त्यागशीला धर्मानुरागिनियों तथा सम्राट देवानांप्रिय अशोक और हर्ष पर बड़ी श्रद्धा थी।

इनके माता-पिता को जब इनके निश्चय का पता लगा तो उन्होंने अपनी प्रिय पुत्री का विवाह काशी और कन्नौज के एक मात्र अधिपत राजा मदन चन्द्र के युवराज गोविन्द चन्द्र के साथ बड़ी धूमधाम से कर दिया।

राजा होने पर गोविंद चन्द्र काशी में अधिक समय तक निवास करते थे। उन्होंने गजनवी को मध्यदेश में बढ़ने से रोक दिया था। वे केवल पराक्रमी ही नहीं, गुणी, धार्मिक एवं दानी थे। मगध, अंग और मिथिला को उन्होंने वीरता पूर्वक विजय प्राप्त कर अपने अधिकार में कर लिया था। सर्व-गुण-सम्पन्न अपनी रूपवती रानी कुमार देवी का वे हृदय से आदर करते थे। रूप और गुणों के कारण कुमार देवी राज-रमणियों के बीच ताराओं के मध्य चन्द्र की भांति शोभित थीं। जनता उनको व उनके पति को लक्ष्मी और विष्णु के समान कहकर सम्मान करती थी। राजा शंकर के आराधक थे और रानी आर्या वसुन्धरा की आराधिका थीं। वे नित्य प्रातः गंगाजल से स्नान कर अपने इष्ट-देव के अर्चनार्थ मंदिर में जातीं और महाकारुणिक भगवान् बुद्ध की पूजा

बन्दना कर अपने को धन्य मानती थीं। त्रिरत्न की अर्चना के पश्चात् वे भिक्षु संघ को भोजन दान देती थीं। याचक भी रानी को अन्नपूर्णा मानकर उनके समीप आते थे और रानी उन्हें भोजन वस्त्र देकर संतुष्ट करती थीं। दोनों, धर्म के प्रति बड़े उदार थे। राजा गोविन्द चन्द्र भी तथागत की उपासना एवं दान-पुण्य से रानी पर अधिकाधिक प्रसन्न होते थे।

अपनी श्रद्धा के प्रतीक सम्राट देवनांप्रिय अशोक द्वारा बनवाये हुए ऋषिपतन के मूलगंध कुटी विहार का इन्होंने जीर्णोद्धार करवाया और बड़े समारोह के साथ वहाँ भगवान् बुद्ध की दिव्य प्रतिमा स्थापित करवाई। धर्म-चक्र-प्रवर्तन मुद्रामयी वह मूर्ति बड़ी ही मनोरम है। रानी ने स्वयं भी धर्म-चक्र-जिन विहार के नाम से एक सुन्दर विशाल नव मंजिले भवन का निर्माण करवाया। जो पूर्व से पश्चिम तक ८०० फुट लम्बा था। विहार की भित्तियों पर निर्मित स्थापत्यकला के सुन्दर प्रतीक आज भी मन को मोह लेते हैं। विहार के मध्य उन्होंने सुन्दर जलकूप बनवाया था। जिसके निकट स्नानागार थे। विशाल प्रांगण में भिक्षुओं की शिक्षा एवं अध्ययन के हेतु सुन्दर परिवेण बना था। परिवेण के मध्य भाग में भगवान् महाकारुणिक बुद्ध की भव्य विशाल प्रतिमा स्थापित की गई थी। ग्रीष्म काल में निवास करने के लिये विहार में तलघर एवं सुरंग पथ निर्मित थे। धर्मानुरागिनी रानी ने इन पावन मंदिरों एवं भव्य विहारों के खर्च के लिये काशी की सबसे बड़ी तहसील "जम्बुकी" को अर्पित कर दिया था।

धर्म-शिक्षा की ओर भी रानी की बड़ी रुचि थी। तत्कालीन शिक्षा-केन्द्र नालंदा और महाबोधि गया के लिये भी उन्होंने बहुत धन दिया था। सहस्त्रों भिक्षुओं ने इनके दायकत्व में धर्म-शिक्षा प्राप्त की। शील पालन, विरक्त-अर्चना एवं दान-पुण्य इस पति परायणा रूपवती रानी

कुमार देवी का लक्ष्य था। इसी में उन्होंने अपना समस्त जीवन व्यतीत कर दिया।

काशी की धर्म-प्रसारिका श्रद्धालु रानियों में इनका स्थान प्रमुख था। धर्म की वह महान् सेविका आज नहीं है किन्तु उनके सुपुत्र विजय चन्द्र का बनवाया हुआ उनके फूलों पर निर्मित भव्य स्तूप खंडहरों के बीच आतप-वर्षा को सहता हुआ आज भी विद्यमान है। स्तूप तथा सारनाथ और श्रावस्ती के प्राचीन-कालीन विहारों परिवेणों के ध्वंसावशेष आज भी धार्मिक महारानी की धर्म-सेवा का यशोगान कर रहे हैं। उन कला-कृतियों के नष्टावशेषों को देख, दर्शक-श्रद्धा विभोर हो जाते हैं।

मेरी फोस्टर

सुनील सागर की फेनिल उत्ताल तरंगों पर तैरता जलयान जापान की ओर बढ़ रहा था। साधारण वेश-भूषा में एक तेजस्वी सिंहली युवक शिकागो के धर्म-सम्मेलन के विषय में वार्ता कर रहा था। समीप ही बैठी महिला जो वस्त्रों एवं रहन-सहन से सम्पन्न प्रतीत होती थीं उसकी बातों को ध्यान देकर सुन रही थीं। वार्ता समाप्त होने पर उन्होंने युवक से कहा—"मुझे हवाई-द्वीप जाना है, आपकी बातों से मुझे बड़ा हर्ष हुआ।"

युवक ने गम्भीर स्वर में बताया वह शिकागो के सर्व-धर्म-सम्मेलन में सम्मिलित होने गया था। अब सिंहल वापस जा रहा है।

परिचय के पश्चात् महिला ने कहा—"मुझे अपने सेवक-सेविकाओं की थोड़ी-थोड़ी भूल पर भी बड़ा क्रोध आता है। उन्हें डाँटने-फटकारने के पश्चात् मुझे स्वयं दुःख होता है। कोई ऐसा यत्न बताइये जिससे क्रोध शान्त हो।" युवक ने मैत्री-भावना को समझाया और महिला बौद्ध-धर्म से अत्यन्त प्रभावित हुईं। मैत्री-भावना से उन्हें पूर्ण लाभ भी हुआ और कुछ वर्षों के पश्चात् उन्होंने त्रिरत्न की शरण ग्रहण कर लिया।

उक्त महिला का नाम था मेरी एलीजाबेथ फोस्टर। ये हवाई द्वीप की राजधानी के एक धनी व्यक्ति जेम्स रेवेका रोबिन्स की पुत्री थीं। इनका जन्म २१ सितम्बर १८४४ में होनोलुलु हवाई द्वीप की राजधानी में हुआ था। धनी पिता की पुत्री मेरी का विवाह उत्तरी अमेरिका के धनाढ्य बेंकर श्री० टी० आर० फोस्टर से हुआ और मेरी, मेरी-एलीजाबेथ-फोस्टर के नाम से विख्यात हुईं। होनोलुलु जाते समय जिम

प्रभावशाली युवक से भेंट कर उन्हें बहुत प्रसन्नता हुई थी और उसे अपने घर आने का आमन्त्रण दिया था। उस प्रथम भेंट ने मेरी के हृदय में धर्म-ज्योति को आलोकित कर दिया। उसके प्रेरक वही उन्तीस वर्षीय युवक बौद्ध-धर्म के विख्यात पुनरुद्धारक "अनागारिक धर्म-पाल" थे।

सम्राट अशोक द्वारा निर्मित मूलगन्ध-कुटी-विहार, ऋषिपतन मृग-दाय की सघन झाड़ियों में जीर्ण-शीर्ण एवं विस्मृत हो गया था। कल्याण-संघ एवं धर्म-चक्र-प्रवर्तन की पावन भूमि ऋषिपतन को पुनः खोज निकालने एवं उसे सुरक्षित बनाने के लिये अनागारिक धर्मपाल ने कठिन परिश्रम करना प्रारम्भ किया। श्रद्धामयी मेरी फोस्टर ने सुना, धर्मपाल जी का धार्मिक आव्हान। वे हर्ष से झूम उठीं। पत्र पाते ही सारनाथ ऋषिपतन के पुनरुद्धार के कार्यों के लिये उन्होंने सन् १९०२ में पाँच सौ डालर का दान अर्पित किया। वहीं से उनकी सहायता का प्रारम्भ हुआ। दूसरे वर्ष उनकी ओर से २००० डालर की सहायता अनागारिक धर्मपाल के समीप पहुँच गई। सारनाथ की झाड़ियाँ, मिट्टी की परतें अलग की जाने लगीं। ध्वंसावशेष के रूप में मूलगन्ध-कुटी-विहार और काशी की बौद्ध महारानी कुमार देवी की श्रद्धा का प्रतीक धर्म-चक्र, जिन-विहार, परिवेण, स्तूप आदि के दर्शन होने लगे। सन् १९१३ तक ग्यारह वर्षों की अवधि में धर्मा-नुरागिनी श्रीमती फोस्टर ने धर्मपाल जी द्वारा निर्मित महाबोधि-सोसइटी को धर्म-कार्यों के हेतु तीस हजार रुपया का दान दे डाला।

सन् १९१३ में श्रद्धामयी उपासिका मेरी फोस्टर को धन्यवाद देने के हेतु अनागारिक धर्मपाल हवाई द्वीप गये। अपने पथ-प्रदर्शक का स्वागत, श्रीमती मेरी ने पूर्ण श्रद्धा के साथ किया और उन्होंने सुदूर सिंहल में फ्री हास्पिटल खोलने की इच्छा प्रगट की। इस हेतु उन्होंने अपने पूज्य पिता रोबिन्सन के नाम पर साठ हजार का दान दिया।

कोलम्बो में बना हुआ "फोस्टर रोबिन्सन फ्री हॉस्पिटल" उनकी दान-शीलता का प्रतीक है।

भारत और सिंहल में बौद्ध-धर्म के पुनरुत्थान के लिये धर्मपाल जी सोचते और योजनायें बनाते थे। फिर उन्हें कार्य-रूप में परिणत करने के लिये वे प्रसन्नता-पूर्वक सतत परिश्रम में लग जाते थे। मेरी फोस्टर उनके कार्यों को सुनतीं और सुखद कल्पना को साकार करने के लिये सहायतार्थ प्रस्तुत हो जाती थीं। धर्मपाल जी जननी की भाँति श्रीमती फोस्टर का आदर करते थे और वे उन्हें भाई मानती थीं। धर्मपाल जी के अथक प्रयत्नों से आज सारनाथ के पावन प्राङ्गण में नवनिर्मित मूल-गन्ध-कुटी-विहार शान्ति की प्रेरणा दे रहा है। इसके निर्माण में श्रीमती मेरी फोस्टर का भी पर्याप्त धन व्यय हुआ है। श्रद्धामयी उपासिका मेरी जबसे त्रिरत्न-शरण में आई, अपना जीवन, धन एवं धर्म के पुनरुत्थान के लिये अर्पित कर दिया।

उनके जीवन का ध्येय था, महाबोधि सभा की सहायता, ताकि विस्मृत होती पावन स्थलियाँ पुनः आलोक में आवें और धर्म के प्रसार से विश्व में शान्ति की पवित्र-धारा प्रवाहित हो। तथागत के कल्याण-कारी उपदेशों को प्रसारित करने के लिये सोसाईटी ने सब कुछ किया और कर रही है। दानशीला श्रीमती फोस्टर महाबोधि सभा के लिये ममतामयी माता की भाँति थीं। वे सभा को शैशव में सम्हालती रहीं। उनकी हार्दिक कामना थी कि विश्व-कल्याणकारी बौद्ध-धर्म का पुनरुत्थान हो। इसके लिये उन्होंने सन् १९१८ और सन् १९२३ ई० में पचास हजार और एक लाख डालर का दान अर्पित किया। उनकी दानशीलता बुद्ध-काल की श्रद्धामयी उपासिका विशाखा के दान की स्मृति को साकार कर देती है, जिसने भिक्षु-संघ को वस्त्र, भोजन और औषधि आदि का दान देकर भगवान् से आठ उत्तम वरों की याचना की थी। उसी भाँति श्रीमती मेरी फोस्टर के निस्वार्थ दान

को देखकर उन्हें आधुनिक-युग की विशाखा कहने में अतिशयोक्ति न होगी।

महाबोधि-सभा के कार्यों की सफलता का श्रेय मेरी फोस्टर के दान को भी है। धर्म के लिये स्वयं को समर्पण करने वाले अनागारिक धर्म-पाल द्वारा एकत्र किये गये रुपये और श्रीमती फोस्टर के दान की रकम आज भी सिलोन बैंक में जमा हैं, जिनकी सम्मिलित आय से सभा के कार्यों में बड़ी सहायता मिल रही है।

———

महाबोधि सभा के अन्य प्रकाशन

१. मज्झिम निकाय	....	८)
२. दीघ निकाय	....	६)
३. विनय पिटक	...	८)
४. संयुत्त निकाय भाग १	....	७)
५. ,, ,, भाग २	....	६)
६. उदान	....	१।)
७. बुद्ध कीर्तन	....	२)
८. बौद्ध शिशु-बोध	...	।)
९. भगवान् हमारे गौतम बुद्ध (कविता)	....	‑)
१०. कुशीनगर का इतिहास	....	२)
११. कुशीनगर दिग्दर्शन	....	।)
१२. महावंसो	....	।।।)
१३. पूर्णिमा	....	।।=)
१४. बोधिद्रुम	...	।=)
१५. सरल-पालि-शिक्षा	....	१।।)
१६. धम्मपद	...	१।।)
१७. बौद्ध-चर्य्या-पद्धति	....	१।।)
१८. सुत्तनिपात	....	२।।)
१९. पालि महाव्याकरण	....	५।।)
२०. खुद्दक पाठ	....	।)
२१. तेलकटाह गाथा	...	।)
२२. तथागत का प्रथम उपदेश	...	।)
२३ इतिवुत्तक	....	।।।)
२४. थेर गाथा	....	३)
२५. आदर्श बौद्ध महिलायें	....	१।।)

प्राप्ति स्थान :—

महाबोधि पुस्तक-भण्डार, सारनाथ, बनारस।